प्रकाशक
कविरत्न अखिलानन्द शर्म्मा
मु० पो० अनूपशहर
ज़ि० बुलन्दशहर

मुद्रक
पं० रामजीलाल शर्मा
हिन्दी प्रेस, प्रयाग.

समर्पण

अवधप्रान्तस्थमहेवाराज्याधिपति-
श्रीजयेन्द्रबहादुरसिंहजीको
सनातनधर्मानुरागिता-
के कारण
उनमें उत्पन्न हुए अनुरागकी प्रेरणा से
ग्रन्थकार ने
इस ग्रन्थरूपीसदुपायन को
उनके लिये
सादर समर्पित किया

महेवा-महीप-महिम्नः स्तोत्रम्

महनीयमहेवास्थमहीपमहनीयताम् ॥
महनीयपदैः पद्यै र्महाकविरितिव्यधात् ॥ १ ॥

माननीय महेवा महीप की दिगंतव्यापिनी जो महिमा है उसको प्रशस्त पद्यों के द्वारा एक महाकवि इस प्रकार लिखते, हैं ॥ १ ॥

अस्ति प्रतिष्ठितपदा जगतीतलेत्र
सा कापि पूरवधमंडलमंडनाय ॥
या निर्मिताऽमरपुरीव विशेषवृत्ता
वृत्तस्थितेन नवविश्वसृजा ऽमरेण ॥ २ ॥

भारतवर्ष की पवित्र भूमि में विस्तृत रूप से विद्यमान एक वह महेवा नगरी है जिसको अवध प्रांत के अलंकरण के लिये विधाता ने अमरपुरी के समान समस्त वृत्तांतों से व्याप्त कर नवीन विश्वनिर्माण के उद्देश्य से बनाया ॥ २ ॥

तामावसत् प्रथमभूपतिरप्रमेया—
मेकांतमुत्तमतमामुमरावसिंहः ॥
सिंहोचितेन किल यस्य विजृम्भितेन
चौहानवंशमहिमाऽहिमतामयासीत् ॥ ३ ॥

उस महेवा राजधानी में सबसे प्रथम चौहान वंशके रत्न महाराजा उमरावसिंह जी राजा हुए जिनके सिंहोचित समारोह से चौहानवंश की कीर्ति एक बार ही सर्वत्र विस्तृत हुई ॥३॥

शाक्तं मुदा मतमुपेयुषितत्र भूपे-
विद्याविलासविशदीकृतकोपविते ॥
भूमंडलाभरणभूतगुणा रमापि
सत्यं तमेव नृपतिं वरयांबभूव ॥ ४ ॥

शाक्तमत के उपासक महाराज उमरावसिंह जी को संस्कृत विद्यामें प्रवृत्त देख कर समस्त भूमंडल के आभरण रूपगुण वाली श्रीमती लक्ष्मी ने भी उन का ही वरण किया ॥ ४ ॥

पुत्रानवाप्तिमयतापहरस्रभानौ
भूपे दिवंप्रतिगते महसैव तस्य ॥
साम्राज्यसौख्यसदुपायनजंगमश्री-
रेनं सहैव समगादुमरावसिंहम् ॥ ५ ॥

संतान के अभाव स्वरूप तापके प्रत्यक्ष सूर्य महाराजा उमरावसिंह जी के अस्त होने पर अकस्मात् राज्य की जंगम लक्ष्मी रूप उनकी रानी भी उनके साथ ही सती हुई ॥ ५ ॥

यातेऽततोऽमरपुरीमुमरावसिंहे
तद्राज्यमाप सुतरां गजराजसिंहः ॥
शैवान्ववायमधिगत्य शिवेन येन
बाणाब्दमेव निजराज्यसुखंसमेतम् ॥ ६ ॥

महाराजा उमरावसिंह जी के स्वर्ग जाने पर उनकी गद्दी के मालिक महाराजा गजराजसिंह जी हुए, यह औरस नहीं किन्तु चाचा के पुत्र थे, शैवमत का आश्रय लेकर इन्होंने केवल पांच वर्ष तक ही राज्य का सुख भोगा ॥ ६ ॥

अथ विधिवशतो दिवं प्रयाते
नवन पत्नी तदनुक्रमादुपेता ॥
समगमदनुजं तदीयमारा-
द्धिरिवरसिंहमसुप्य राज्यलक्ष्मीः ॥ ७ ॥

दैव दुर्विपाक से गजराजसिंह जी के स्वर्ग सिधारने पर परंपराप्राप्त राज्यश्री उनके सहोदर छोटे भाई गिरिवर सिंह जी को प्राप्त हुई ॥ ७ ॥

वैष्णवं मतमुपेत्य ततोयं
विष्णुपादपरिपूजनचित्तः ॥
पूर्वजानुगतभूर्वरभोग-
यौवनोदितमदेन चकार ॥ ८ ॥

ये महाराजा गिरिवरसिंह जी विष्णु के उपासक थे, वैष्णव मतमें दीक्षित हुए तथा विष्णु भगवान के चरणाराधन में ही हर समय अपना चित्त लगाते थे, साथ साथ राज्य का भी सब काम करते थे ॥ ८ ॥

तस्मिन्भुवः परिवृढेऽमरलोकमाप्ते
वंशेऽप्यपत्यपरिशोषनयावसन्ने ॥
भाग्योदयादुपगतंतदवाप राज्यं
वेगेन दत्तकसुतो बलभद्रसिंहः ॥ ९ ॥

राजा गिरिवर सिंह जी के स्वर्ग जाने पर और अनपत्यता के कारण वंश कोभी अवसान होने पर केवल भाग्योदय सेही जिनको राज्य श्रीने आलिङ्गन किया वे गोद लिए हुए महाराजा बलभद्र सिंहजी इस गद्दी पर बैठे ॥ ९ ॥

तद्वैष्णवं मतमशङ्कमयं समेत्य
धर्मं सनातनमवर्धयदात्मवित्तैः ॥
सामाजिकं च निरवासयदेकदैव
विद्वद्विनोदरसिको रसिकोपभोग्यः ॥ १० ॥

वैष्णव मत में दीक्षित होकर आपने सनातन धर्मकी बहुत वृद्धि की, तन मन धन से आप धर्म की रक्षा करते रहे, [१८९० ई० में] आपने अपने राज्य लखीम-पुर में

सनातनधर्मसभा स्थापित की, और स्वयं उसके संरक्षक हुए, आर्यसमाज का दर्पदलन करना आपका सहज स्वभाव था। आप संस्कृत के विद्वान् और विद्या रसिक थे ॥ १० ॥

नव्यानि राजभवनानि गवाक्षवन्ति
देवस्थलानि विविधानि मनोहराणि ॥
सम्पाद्य तेन निजराज्यमविक्रमेण
संवर्धितं भुजबलोदयलब्धकोषात् ॥ ११ ॥

आपने अपनी राजधानी महेवा में अच्छे २ अनेक महल बनवाए, सुन्दर २ बड़े २ मन्दिर बनवाए और निज भुजों पार्जित धन से अपने राज्य कोभी अधिक बढ़ाया ॥ ११ ॥

कस्तस्य वर्णनमलं विदधातु लोके
वंशस्य कीर्तिधवलीकृतदिङ्मुखस्य ॥
यस्मिन्नशेषसुषमाविपदे निसर्गा-
दाविर्बभूव महितो बलभद्रसिंहः ॥ १२ ॥

जिस वंशमें महाराजा बलभद्र सिंहजी प्रकट हुए उस वंशका सांगोपांग वर्णन करना कल्पना के मार्ग से बहुत दूर है इसलिये यहीं पर विश्राम करना उचित प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

वासवोपमसमस्तविहारे
वासवालयमिते बलभद्रे ॥
राज्यमस्य सहजेन सहालं
सा चकार रघुवंशकुमारी ॥ १३ ॥

महाराजा बलभद्र सिंह जी के यशोवशिष्ट होने पर उनको गद्दी पर उनके सगे भाई शिवसिंह जी के साथ २ महारानी रघुवंश कुमारी राज्य करती रहीं ॥ १३ ॥

कैलासमाप्तवति सच्छिवसिंहभूपे
वेदांकगेषु - किल तस्य तनूद्भवेषु ॥
ज्येष्ठः स्वराज्यमकरोद्विलायतश्री
राजेन्द्र एष हरिवर्षमहीपदत्तम् ॥ १४ ॥

शिवसिंह जीके कैलासवास होने पर उनके चार पुत्रों में ज्येष्ठपुत्र राजेन्द्र बहादुर सिंह ने विलायत से राज्य पाया था, बाकी तीन भाई [महेन्द्र बहादुर सिंह, नरेन्द्र बहादुर सिंह, शिवेन्द्र बहादुर सिंह] आनन्द करते थे। वर्तमान में जीवित शिवेन्द्र बहादुर सिंह जी राजेन्द्र बहादुर सिंह जी के समय में नायब थे परन्तु राजा नहीं हुए ॥ १४ ॥

तनयसुखदिदृक्षाकामनावद्भभावः
सुकलसुपठमेतं राज्यधौरेयं पृथिव ॥
नरपतिरिति मेने दत्तदृष्टिः सुतायां
कथमपि निजराज्यं भाग्यलब्धं यथाह ॥ १५ ॥

राजेन्द्र बहादुर सिंह जी का कोई पुत्र नहीं था। श्रीमती जयेन्द्र कुमारी तथा व्रजेन्द्र कुमारी ये दो पुत्रियां थीं। इसी कारण आप अपना राज्य करते २ जीवनन्मुक्त से रहा करते थे ॥ १५ ॥

शिवेन्द्रसिंहस्य तनूद्भवाय
जयेन्द्रसिंहाय महामहिम्ने ॥
स्वीकारपत्रानुमतं समस्तं
राजेन्द्रसिंहः प्रददौ स्वराज्यम् ॥ १६ ॥

राजेन्द्र बहादुर सिंहजी ने शिवेन्द्र बहादुर सिंह जीके सुयोग्य पुत्र जयेन्द्र बहादुर सिंह जी को अपना समस्त राज्य वसीयत करके दे दिया। वसीयत करने के कुछ ही दिनबाद राजेन्द्र बहादुर सिंहजी गोलोक वासी हुए ॥ १६ ॥

राजेन्द्रसिंहेऽमरलोकमाप्ते
तदीयसिंहासनमेत्य हैमम् ॥
जयेन्द्रसिंहः शिवपूजनार्थी
शिवानि चक्रे शिवमन्दिराणि ॥ १७ ॥

राजेन्द्र बहादुर सिंह जी के यशोवशिष्ट होने पर उनके सुवर्ण सिंहासन पर पदार्पण करके वर्तमान महाराजा जयेन्द्र बहादुर सिंह जीने कौन कौन से अच्छे अच्छे कार्य नहीं किये ॥ १७ ॥

विद्यालयो भवतु मे नगरे विशाल-
स्तं चौषधालयमुपैतु मदीयकोषः ।
भव्यश्चकास्तु भवने मम पुस्तकौघो
यस्येदमेव कथनं मनुजानुपैति ॥ १८ ॥

अपने नगरमें एक विशाल संस्कृत विद्यालय और उसी के साथ साथ एक औषधालय और एक पुस्तकालय खोलने का आपको हर समय ध्यान रहता है ईश्वर करे आपके ये तीनों मनोरथ शीघ्रही पूर्ण हों ॥ १८ ॥

यत्कोषनिःसृत धनव्ययतः प्रसिद्धिं-
मत्पुस्तकं प्रतिगमिष्यति तस्यराज्ञः ॥
कल्याणमस्तु विजयोऽस्तु रिपुक्षयोऽस्तु
सत्कीर्तिरस्तु सकलेप्सितसिद्धिरस्तु ॥ १९ ॥

जिन महाराजा जयेन्द्रबहादुरसिंह जी के धन व्यय से यह मेरा ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाशित होता है उनका कल्याण हो, विजय हो, शत्रुओं का नाश हो, कीर्ति हो और मनोरथ मात्र की पूर्ति हो ॥ १९ ॥

निवेदक
अखिलानन्द शर्म्मा कविरत्न.

श्री० पं० मोहनलालजी तिवारी

आपका जन्म अवधप्रान्तके लखीमपुरमें विद्वद्ग्रगण्य श्री० पं चुन्नीलालजीके यहा संवत् १६२८ में हुआथा। (होनहार विरवानके होत चीकने पात) इस लोकोक्तिके अनुसार आप पहिले ही से बुद्धिमानथे–इसी कारण सन् १८८८ ई० में आपने लखीमपुरके गवर्नमेण्ट हाईस्कूलसे एन्ट्रेन्स पास किया १८६० ई० में कैनिङ् कालिजसे एफ. ए. पास किया। १८६३ ई० में उसी कालिजसे संस्कृतके साथ बी. ए. पासकिया संस्कृतमें आपका नंबर १ रहा इसी कारण आपको सुवर्णपदक मिला और १८६५ ई० में आप एल. एल. बी. में उत्तीर्ण हुए। इस प्रकार विद्याध्ययन समाप्त करके लश्कर (गवालियर) के कालेजमें आप प्रोफेसर हुए। कुछ दिन बाद आपने लखीमपुर में वकालत शुरू करदी, जो अबतक बड़े जोरशोरके साथ चलरही है। इस प्रांतके इस समय आप नेताओंमें हैं, सनातनधर्मसभाके मंत्री हैं, आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं, म्युनिसिपैलटीके चेयरमैनभी आप रह चुके हैं, संस्कृत विद्यालयके मेनेजर हैं, और सनातनधर्म कुमारसभाके संरक्षक है।

आपके परिश्रमसे लखीमपुरमें इस समय सनातनधर्म हाईस्कूल, संस्कृतविद्यालय तथा प्राइमरी पाठशाला स्थापित हुई है–जो बड़ी उन्नति पर है। आपके इस कार्यको देखकर महेवा महीप ठाकुर बलभद्रसिंहजी, रायबहादुर बाबू शिवबक्सरायजी, पं० ललिताप्रसादजी वकील, बाबू श्याम लालजी प्लीडर तथा सेठ तुलसीराम जी आदि महानुभावों ने

तन मन धन से योग दिया, जिससे अभी तक सनातन धर्म सम्बन्धी सभी कार्य सुचारु रूप से चल रहे हैं।

गगनचुम्बी संस्कृत छात्रालय, गगनोदरविलासी स्कूल का भवन, आपके परिश्रम का असाधारण उदाहरण है। आप की अवस्था इस समय ४८ वर्ष की है, पं० शीतलप्रसाद जी आपके सहोदर भाई हैं जो बड़े ही योग्य हैं, आपके परिवार में ओंकारदत्त, कृष्णदत्त, होनहार पुत्र हैं, आपका भानजा वंशीधर है जो भाग्यवान है, कहां तक कहैं, ईश्वर ने आपका परिवार भी आप के अनुरूप ही दिया है। जिन कुलों में आप जैसे बकुल (मौल सिरी) उत्पन्न होते हैं वे धन्य हैं, बकुल भी बड़ा ही भाग्यशाली वृक्ष है, जिसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर एक महाकवि ने—

निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती
कृती मालाकारो बकुलमपि कुत्रापि निदधे।
इदं कोजानीते यदयमिहकोणान्तर गतो
जगज्जालं कर्त्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥ १ ॥

इस प्रकार लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रसंग से बगीचे में वृक्ष लगाने में कुशल माली ने कहीं पर बकुल भी लगाया था, परन्तु इस बात को कौन जानता था कि कोने में लगाया हुआ यह बकुल अपने आमोद से जगन्मात्र को प्रमुदित करेगा। ठीक यही घटना यहां पर भी है। संसार रूपी बाग में सृष्टि बनाने में कुशल विधाता ने प्रसंग से हिन्दुस्तान के एक कोण रूप लखीमपुर में बकुल रूप पं० मोहनलाल जी को भी लगाया था परन्तु आपके कीर्ति रूप सौरभ से जगन्मात्र आनन्द उठावेगा यह बात उसके ध्यान में भी न थी, ऐसे लोकोत्तरचरित, समस्तगुणगणालंकृत, लोक राजोभय मान्य

सनातनधर्मप्राण महानुभाव के लिये हम क्या उपायन दें ?
केवल एक पद्य ही आप की भेट करते हैं :—

सौन्दर्यसंचयमलं प्रविधाय वेधा
यद्रूपनिर्मितिपरिश्रममाततान ।
सोयं समस्तमनुजोद्धरणैककर्मा
संजीव्यतां जगति मोहनलालशर्मा ॥

ग्रन्थकार

आलोचनावतरणम्

जिस ग्रन्थ को लेकर आज हम सनातनधर्मावलम्बिनी जनता के समक्ष उपस्थित होते हैं उसका संपादन सवत् १६७१ में हुआ। परन्तु मसाला इसका कई वर्षों से एकत्र किया गया था। ग्रन्थ तैयार होने पर कुछ दिन तक हमने अपनी मित्रमण्डली के समयोचित परामर्श से ग्रन्थ को यत्र तत्र परिवर्तित एवं परिवर्धित किया। इसके बाद ग्रन्थ के मुद्रण की चिन्ता उपस्थित हुई। इस कार्य के लिये सबसे प्रथम हम बरेली गये। वहां पर हकीम नारायणदास जी के सुयोग्य पौत्र प० कन्हैयालाल जी ने (जो कि बड़े ही योग्य और उत्साही राजवैद्य हैं) इस कार्य में योग दिया। आपकी कार्यनिपुणता, उदारता, विज्ञता, धन्यवाद के साथ बार बार सराहनीय हैं। हमारे परम मित्र साहित्याचार्य पं० शालिग्राम शास्त्री, जो कि इस समय बरेली में विद्यमान हैं, जिस उत्साह से अपने औषधालय का अत्यावश्यक भी कार्य छोड़ कर मेरे साथ हुए, उसका वर्णन परिमित वर्णवती वाणी के लिये सर्वथा अशक्य है।

यहां से चलकर हम पीलीभीत में, अपने प्रिय मित्र पं० ब्रजनन्दनप्रसाद जी के आतिथ्य-भाजन हुए। आप यहां पर नगर के सामयिक नेता हैं, स्वदेशभक्त और लोकप्रिय हैं, अनेक ग्रन्थों के संपादक और प्रकाशक हैं। आपने जिस उदारता के साथ हमारे कार्य में योग दिया उसका वर्णन अवश्य होने के कारण हम छोड़े देते हैं।

यहां से चलकर हम अवधमण्डलान्तर्गत, लखीमपुर में, श्री पं० मोहनलाल जी के यहां पहुँचे। आप का विस्तृत वर्णन इसी ग्रन्थ में, सुन्दर चित्र के साथ अन्यत्र मिलेगा। आपको साथ लेकर महनीय महेवा महीप श्री१०८ युत राजा जयेन्द्रबहादुरसिंह जी की सेवा में राजप्रासाद पर उपस्थित हुए, जिनका मनोहर चित्र ग्रन्थ के आरम्भ में विद्यमान है, और यह ग्रन्थ भी जिनके लिये समर्पित किया गया है। आप का वंश वर्णन इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मिलेगा। आपने स्वागता-चार करते हुए, आने का कारण पूछने पर इस ग्रन्थ के मुद्रणार्थ ६००) एक बार ही दिया, जिसकी सूचना अनेक समाचार-पत्रों में धन्यवाद के साथ उसी समय दी गई। इस प्रकार हमारी ग्रन्थ-प्रकाशन-सम्बन्धिनी यात्रा पूर्ण हुई और भक्ता-भीष्टफलप्रद भक्तानुकम्पी भगवान के परमानुग्रह से हम सफल मनोरथ हुए। यहां के कुछ दयानन्दियों ने, अपनी स्वाभाविक नीचता के अनुसार, इस विषय में, जो बेसुरा राग जनता में यत्रतत्र अलापा था उसका हमारे कार्य की सचाई के सामने सर्वदा के लिए अधःपतन हो गया, इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद है। जिस धर्मपरायण महेवा-महीप ने धर्म की रक्षा के लिये धन प्रदान किया वहीं धर्म सहस्र बाहुओं से लोकोत्तरचरित हमारे महाराजा श्री१०८ जयेन्द्रबहादुरसिंह जी को प्रत्येक कार्य में पूर्ण मनोरथ बनावें, यही हमारा ईश्वर से नम्र निवेदन है।

ग्रन्थकार

आवश्यक निवेदन

सनातनधर्म और आर्यसमाजके परस्पर मतभेद और विवादोंसे कुछभी सम्बन्ध रखनेवाले बुद्धिमान् सज्जनोंको यह भली भांति विदित है कि बहुत कालसे ग्रन्थ लिखना मेरा एक स्वाभाविक कर्तव्य रहा है। आर्यसमाजमें रहते हुए भी मैंने कई एक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनका कि वहां विशेष आदरभी था, क्रमशः विचार करते २ वर्णव्यवस्थापर आर्यसमाज से मेरा पहिला मतभेद हुआ और उसी समय मैंने "वैदिक वर्णव्यवस्था" नामसे एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसके अनन्तर सनातनधर्मके अभिमत सिद्धान्त जैसे जैसे मुझे वेदों और सत् शास्त्रोंमें प्राप्त होते गये वैसेही वैसे उनको सर्वसाधारण के सामने रखनेके उद्देश्यसे मैंने 'अथर्ववेदालोचन' और 'वेदत्रयी समालोचन' नामक दो ग्रन्थ और लिखे। उस समय मेरा विश्वास सनातनधर्मपर बहुत अंशोंमें दृढ़ होचुका था किन्तु बहुत दिनोंकी कुसंगतिके कारण कुछ २ आर्यसमाजके संस्कार बने हुए थे। इसही कारण से पूर्वोक्त तीनों ग्रन्थों में आर्यसमाज के कुसंस्कारों का कुछ २ अंश कहीं २ आगया है। और पुराण इतिहासों पर कुछ आक्षेपभी पूर्वसंस्कार के कारणही होपड़े हैं। इनके द्वितीय संस्करणमें वह सब अंश ठीककर दिया जायगा। इनमें उपयोगी अंश बहुत हैं इसलिये इनका प्रचार तो बन्द नहीं किया जाता किन्तु इस विज्ञापन के द्वारा सब सज्जनों को यह सूचना दी जाती है कि इनमें जो अंश सनातनधर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हों वह मेरा मन्तव्य न समझा जाय। यह ग्रन्थ पहला है जो कि सनातनधर्मके सिद्धा-

न्तोंका पूर्ण अनुगमन करते हुवे लिखा गया है, आगे के सब ग्रन्थ अपने वर्त्तमान दृढ़ मन्तव्यके अनुसारही होंगे और पुराने ग्रन्थों का यथावसर शोधन किया जायगा।

इस सत्यार्थप्रकाशालोचनमें मैंने कई जगह सत्यार्थ प्रकाशको 'स्वराज्य' का प्रतिपादक लिखा है स्वराज्य शब्दसे मेरा अभिप्राय राजविद्रोहसे है। कुछ वर्षों पहले राजनीतिके अनभिज्ञ दिमाग फिरे जो कुछ लोग विदेशी शासनसे चिढ़ते थे, वे बलपूर्वक विदेशी शासन हटाकर अपना राज्य कायम करने को ही स्वराज्य समझतेथे और उसहीकी कामना करतेथे ऐसे ही लोगोंमें स्वा० द० भी एक थे। इसही कारण उनों ने सत्यार्थप्रकाशमें लोगोंको विदेशियों से चिढ़ाया है जैसा कि इस आलोचनके देखनेसे स्फुट होगा। और ब्रिटिश शासनके भीतर रहते हुए जैसा स्वराज्य हमारे वर्त्तमान नेता चाहते हैं, जिसके लिये भारतवासी मात्रको आकाङ्क्षा है, और जो क्रमशः न्यायशील गवर्नमेंटकी कृपासे हमें प्राप्त होने लगा है, उस स्वराज्यवादका गन्धभी सत्यार्थप्रकाशमें नहीं है।,.न इसे स्वामी दयानन्द जानते थे। मेरे शब्द मात्रपर किसी को धोका न हो इस लिए यह स्पष्टीकरण लिख दिया है।

इस आलोचन में एक दो जगह ब्राह्मण ग्रन्थोंको ऋषिप्रणीत वाआर्ष लिखा गया है। उसका अभिप्राय ऋषियोंद्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रकट होनाही है। मै मन्त्र ब्राह्मण दोनोंको वेद मानता हूँ—जैसा कि पृष्ठ ५२ में स्पष्ट लिखभी दिया है। प्राचीन आचार्योंका ही वेदकर्ताके सम्बधमें मतभेद चलाआ-या है कोई वेदको अनादि, कोई ईश्वरप्रणीत और कोई ऋषिप्रणीत मानते आए हैं। अस्तु इस पर यहां मुझे विवाद नहीं करना है। यदि मन्त्र ऋषिप्रणीत हैं तो ब्राह्मणभी वैसेही

हैं, और मन्त्र ईश्वर कृत वा अनादि हैं तो, ब्राह्मणभी अनादि वा ईश्वर कृत हैं। यही सनातनधर्मका सिद्धान्त है और यही मुझे मान्य है।

शीघ्रतावश ग्रन्थमें कई एक त्रुटियां रह गई हैं जो अगले संस्करणमें ठीक करदी जाँयगी। किन्तु सिद्धान्तभेद कुछ नहीं है। जो सज्जन त्रुटियोंकी सूचना देंगे उनका कृतज्ञ होऊंगा।

ग्रन्थकार

विषयानुक्रम

कविरत्न पण्डित अखिलानन्द शर्म्मा

मङ्गलाचरणम्

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च ॥
सा चण्डिकाऽखिलजगत्परिपालनाय
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ॥१॥

जिसके अतुल प्रभाव तथा बल को अनन्त भगवान विष्णु, ब्रह्मा, और महादेव भी कहने को पर्याप्त नहीं हैं वह भगवती देवी समस्त संसार के पालन के लिये तथा अशुभ जो भय है उसके नाश के लिए अपनी इच्छा प्रकट करे। यह इसका अर्थ है। सन् १८७५ में छपे हुए स० प्र० के प्रथम संस्करण के ३६४ पृष्ठ पर स्वा० द० ने यह पद्य लिखा है। जो लोग अपनी अल्पज्ञता के कारण स० प्र० के वर्तमान संस्करणों में शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं मानते वे अब तक के १३ संस्करणों में सप्तशती का यह पद्य दिखा दें, नहीं तो स्वा० द० के मरने पर छपे हुए अन्य संस्करणों में किसकी आज्ञा से यह पद्य नहीं छपा, यह सिद्ध करें।

अवतरणिका

बहुत दिनों से हमारा यह विचार था कि सत्यार्थप्रकाश के ऊपर हम एक समालोचनात्मक अपूर्व ग्रन्थ लिखें परन्तु समयाभाव के कारण यह कार्य न हो सका। वैदिक वर्णव्यवस्था, अथर्ववेदालोचन, वेदत्रयीसमालोचन आदि अत्यावश्यक ग्रन्थों के संपादन में हमारा समय व्यतीत हुआ। भक्तानुकंपी भगवान् के परमानुग्रह से अब यह ग्रन्थ सहृदय पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है। धैर्य और विचार के साथ पाठक इसका स्वाध्याय करें।

सत्यार्थप्रकाश का समय

राजा जयकृष्णदासजी के द्वारा जिसका प्रथम संस्करण सन् १८७५ ई० में प्रकाशित हुआ था उस सत्यार्थप्रकाश का संपादन स्वामी दयानन्द ने १८७४ ई० में किया था। यह उनके हस्तलिखित सत्यार्थप्रकाश से जो कि अभी तक अजमेर में सुरक्षित है, विदित होता है। वर्तमान समय में जो सत्यार्थप्रकाश परोपकारिणी के द्वारा प्रकाशित होता है वह स्वामी दयानंद के मरने के बाद कई पंडितों ने मिल कर प्रयाग में बनाया है, इसकी साक्षी प्रतिनिधिसभा के प्रधान श्री० पं० तुलसीरामजी अपने पत्र में स्वयं देते हैं जिसकी नक़ल इसी ग्रन्थ में अन्यत्र मिलेगी। प्रतिनिधि के प्रधान का साक्षिपत्र इस विषय में अन्यप्रमाणानपेक्ष परमप्रमाण है, उसके समक्ष अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। जब तक दयानंद जीवित थे तब तक वही सन् १८७५ वाला सत्यार्थप्रकाश चलता रहा। दस वर्ष तक लगातार उसी का क्रय विक्रय होता रहा। केवल एक विषय में कई वर्षों के बाद

दयानन्द ने अपने मतभेद का नोटिस दिया है, जो इस प्रकार है।

विज्ञापनम्

सबको विदित हो कि जो जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूँ विरुद्ध बातों को नहीं। इससे जो मेरे बनाए सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रंथों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे हैं वे उन उन ग्रन्थों के मतों को जानने के लिए लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूँ। जो जो बात वेदार्थ से निकलती है उन सबको प्रमाण करता हूँ। क्योंकि वेद ईश्वरवाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य हैं। और जो जो ब्रह्मा जी से लेकर जैमिनि मुनि पर्यंत महात्माओं के बनाये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ हैं उनको भी मैं साक्षी के समान मानता हूँ। और जो सत्यार्थप्रकाश के ४२ पृष्ठ की २५ पंक्ति में "पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गए हैं उनका तो अवश्य करे"'इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में छप गया है सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है"।

इस विज्ञापन पर विचार

यह विज्ञापन निर्णयसागर प्रेस में छपे हुए यजुर्वेदभाष्य के प्रथमांकस्थ मुखपत्र के द्वितीय पृष्ठ पर छपा हुआ है। और इसकी कापी अभी तक परोपकारिणी के कार्यालय में विद्यमान है। हमने दोनों को देखकर यहाँ पर उद्धरण दिया

है। संवत् १९३५ में यह विज्ञापन दिया गया है। इसमें कई बातें विचारणीय हैं।

सबसे पहिली बात यह है कि स्वामीदयानन्द कहते हैं कि जो जो बातें मेरे ग्रन्थों में वेदप्रतिपादित या वेदानुकूल हैं उनको मैं मानता हूँ। बाकी आर्षग्रंथ केवल साक्षित्वेन उपन्यस्त हैं। यदि यही एक बात स्वा० द० की मानी जावे तो स० प्र० में सब मंत्र मिलाकर ५८ हैं, जो एक फार्म भी पूरे नहीं हैं। केवल अन्य ग्रन्थों के प्रमाणों से ही स० प्र० भरा पड़ा है। ऐसी हालत में स्वा० द० के कथनानुसार ही स० प्र० एक महारद्दी ग्रन्थ ठरहता है, जिसका विवेचन हम अन्यत्र करेंगे।

दूसरी बात यह है कि सन् १८७५ वाले स० प्र० में स्वा० द० ने केवल अपने मन्तव्य के विरुद्ध श्राद्ध विषय ही बतलाया है, बाकी ग्रन्थ को नहीं। यदि यह बात ठीक मानी जावे तो उसी संस्करण के ३०३ पृष्ठ पर गोमेध में वंध्या गौ का मारना उनके मंतव्यानुकूल मानना होगा, यदि कहो कि "लिखने और शोधने वालों की भूल से" इस प्रकार के विषय उसमें प्रविष्ट हुए हैं तो यह बात केवल परप्रतारण मात्र ही मानी जा सकती है क्योंकि कोई भी विषय ग्रन्थकार की आज्ञा के विरुद्ध ग्रन्थ में नहीं छप सकता है। यदि कंपोज़ीटर कंपोज़ कर भी लें तो प्रूफ पढ़ने वाले एक एक अक्षर असली कापी के अनुकूल शोध कर छपाने की अनुमति देते हैं। यदि इतने पर भी कोई त्रुटि रह जाती है तो अंतिम प्रूफ ग्रन्थकार के पास चला जाता है। जब तक ग्रन्थकार का आर्डरी हस्ताक्षर नहीं होता है तब तक कोई भी फार्म प्रेस पर नहीं कसा जाता है। यह प्रेस मात्र का नियम है। इस नियम के होते हुए "अपनी बलाय औरों

के सिर टाल कर" लिखने और शोधने वालों को बदनाम करना सिवाय दयानन्द के और किसका कर्तव्य हो सकता है।

असली सत्यार्थप्रकाश

विचार दृष्टि से यदि देखा जाय तो असली सत्यार्थप्रकाश वही है जो सन् १८७५ ई० में राजा जयकृष्णदास के द्वारा छपा था। वर्तमान समय में जो सत्यार्थप्रकाश मिलता है वह स्वामीजी के मरने के बाद छपा है। स्वामीजी का देहान्त सन् १८८३ ई० में हुआ था और दूसरे संस्करण के मुखपत्र पर सन् १८८४ छपा है इसलिए दूसरा संस्करण उनके सामने का नहीं माना जा सकता है। पहले संस्करण के जिस विषय पर स्वामीजी का मतभेद था उसके लिये उन्होंने स्वयं नोटिस दे दिया था और वह विषय भी केवल मृतक श्राद्ध था अन्य कोई नहीं। यदि पहिला संस्करण सर्वांश में स्वामीजी को अमान्य होता तो ग्रन्थ मात्र को रद्द करने के लिए उनका नोटिस निकलता परन्तु ऐसा हुआ नहीं। इसलिये पहले संस्करण के अतिरिक्त वर्तमान समय में जो संस्करण मिलते हैं वे सब स्वामीजी के नहीं किन्तु अन्य-जनों के बनाए हुए हैं।

प्रतिनिधि के प्रधान की गवाही

स्वामी दयानंद के बदले अन्यों ने इस मंत्र को भी (मुक्ति से लौटने वाले) स० प्र० और वेद भाष्य में अन्यथा व्याख्यान करके मिला दिया, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश की द्वितीयावृत्ति आर्यसमाज प्रयाग की बनाई और वैदिक प्रेस-कमेटी की निगरानी में छपी है, और स्वामी दयानंद सरस्वती जो

के देहान्त के पश्चात्...सारे भारतवर्ष के आर्यसमाजी, परोपकारिणी सभा के सभासद, आर्यप्रतिनिधि सभायें, उनके अधिकारी और पं० लेखराम जैसे अन्वेषणकर्ता—जिन्होंने स० प्र० के लिखित पत्रों से सब पाठ को एक बार वैदिक प्रेस में जाकर ढुंढ़वाया, और मिलवाया, और जहाँ जहाँ स० प्र० में ग्रंथों के नाम मात्र थे अध्याय, सूक्त, मंत्र, श्लोक आदि के ब्यौरे न थे, उन सब को अपने घोर परिश्रम से ढूंढ़कर लिखवाया और छपवाया। देखो वेदप्रकाश अगस्त सन् १९१० ई० पृष्ठ १८२।

एक विद्वान् की सम्मति

सत्यार्थप्रकाश के विषय में हमारे प्रिय मित्र पं० नरदेवशास्त्री जी क्या सम्मति रखते हैं यह भी देखना चाहिये। आप ने अभी आर्यसमाज के इतिहास का प्रथम भाग लिखा है जो हिन्दी प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। उसके १९३ पृष्ठ पर सत्यार्थप्रकाश के लिये आपने जो अक्षर लिखे हैं वे निम्नलिखित हैं।

"सत्यार्थप्रकाश को आर्यसमाज रूपी चर्च का बाइबल कह सकते हैं। परन्तु कहीं कहीं मूर्ख मंडली में पाँचवाँ वेद समझा जाने लगा है। इसमें प्रथम दश समुल्लास प्रायः स्वमतमंडनात्मक और शेष चार खंडनात्मक हैं।...कहीं २ वाक्य रचना गोल है और सन्देहोत्पादक है। पढ़ने वाले सब प्रकार के अभिप्राय निकाल सकते हैं"। इन अक्षरों पर टीका टिप्पणी करना व्यर्थ है। अभिप्राय पर ध्यान देना चाहिए, आपने किस सुंदरता से समाज को "चर्च", सत्यार्थप्रकाश को "बाइबल" और उसके मानने वालों को "मूर्खमंडली" कह

दिया है। यह देखनेयोग्य है। वास्तव में यदि गहरी गवेषणा के साथ इस बात पर विचार किया जावे तो आर्यसमाज ईसाई धर्म का प्रतिरूपकही ठहरता है। क्योंकि जिस प्रकार दश नियम ईसाइयों के यहाँ हैं उसी प्रकार दशनियम आर्यसमाज में भी हैं। अधिवेशन भी रविवार को साथ ही साथ होते है। छूत छात दोनों नहीं मानते हैं, इसलिए उनमें और इनमें नाम मात्र का ही अंतर है. वास्तव में कुछ अंतर नहीं है।

सत्यार्थप्रकाश में परिवर्तन

सन् १८७५ ई० से लेकर १९१८ ई० तक सत्यार्थप्रकाश के तेरह संस्करण निकले हैं, उनमें से किसी भी संस्करण को हाथ में लेकर आगे पीछे के संस्करणों का मिलान करने को बैठिये, कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य मिलेगा, किसी में पद-परिवर्तन, किसी में वाक्यपरिवर्तन, किसी में ग्रन्थ के पत्रों का आगे पीछे हो जाना, कहीं पाई न होने पर लगाना, कहीं होने पर निकालना, कहीं कामा इधर का उधर करना, कहीं स्पेस का कहीं का कहीं होना—यह वर्तमान समय के आर्यसमाजियों का परम कर्तव्य है। हमारे समक्ष इस समय प्रत्येक संस्करण की १-१ प्रति विद्यमान है, उनमें परस्पर आकाश पाताल का सा अंतर है।

स्वामी दयानंद के समक्ष में जो सत्यार्थप्रकाश १८७५ ई० में छपा था उसमें भूमिका नहीं है—केवल विषयानुक्रम देकर ग्रन्थ का आरंभ है। बारहवें समुल्लास तक ग्रन्थ पूर्ण होगया है, बाकी कुछ नहीं है। स्वामी जी के मरने के बाद १८८४ ई० में जो दूसरा संस्करण छपा है उसमें भूमिका बनाकर जोड़ दी गई है, भूमिका से पहिले "मंत्री प्रबन्धकर्त्री सभा" का

नोटिस है। ग्रन्थ के अंतभाग में १३-१४ दो समुल्लास और जोड़ दिये गये हैं, और दयानंद के नाम से बनाकर स्वमंतव्यामंतव्य भी लगाया गया है—इसमें विचारणीय बात यह है कि—यदि भूमिका दयानंद की बनाई होती तो उसका पहिले संस्करण में होना अत्यावश्यक था— परन्तु पहिले संस्करण में उसका नाम तक नहीं है। दयानंद न तो अरबी जानते थे न अंग्रेज़ी —इस हालत में, तेरहवें समुल्लास में जो बाइबल का अनुवाद दिया गया है—वह दयानंदरचित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अरबी न जानने की हालत में जो क़ुरान का अनुवाद चौदहवें समुल्लास में दिया गया है वह भी दयानंद का नहीं है। यही हालत स्वमंतव्यामंतव्य की भी है। दयानंद के मरने के बाद जो २ ग्रंथ में मिलाया गया है उसकी हिन्दी में भी बड़ा अंतर है।

पाँचवीं आवृत्ति की भूमिका

यह आवृत्ति प्रथम समुल्लास से १२वें समुल्लास के अंत तक नीचे लिखी प्रतियों से मिलाई गई है (१) लिखी हुई दोनों असली कापियाँ (२) दूसरी तीसरी और चौथी बार की छपी काँपियाँ (३) इसके अतिरिक्त ..पंडित लेखराम .. और लाला आत्माराम जी ने जो कृपा करके छापे आदि की भूल चूक और अन्य पुस्तकों के हवाले की एक सूची दी थी, उन सब को सामने रखकर "आवश्यकतानुसार" इसमें उचित शुद्धियाँ की गई हैं। एक आंध विषय में बाहर के सामाजिक विद्वानों से भी संमति ली गई है। फिर भी छापने वालों की असावधानी से यदि कहीं कुछ अशुद्धि हो गई हो तो पाठक क्षमा करें—और कृपा कर सूचना दें (शिवप्रसाद, मंत्री.

प्रबन्धकर्त्री सभा, वैदिकयंत्रालय, अजमेर ता० २४ नवम्बर १८६७।

इसपर विचार

शिवप्रसाद के नाम से स० प्र० के पाँचवें संस्करण के आरम्भ में जो भूमिका दी गई है वह समाजियों की केवल चतुरता है क्योंकि दयानंद ने कोई भी ऐसा लेख अपने जीवन भर में नहीं निकाला—जो प्रत्येक संस्करण में मामूली मनुष्यों के द्वारा परिवर्तन की आज्ञा बतलाता हो, यदि कोई ऐसा लेख समाजियों के पास में हो तो वे सर्वसाधारण के समक्ष उसको प्रकाशित करें। अन्यथा इस महापाप का प्रायश्चित्त करें।

असली कापी कौन सी है?

साधारण मनुष्य जो इसके असली भेद से परिचित नहीं हैं यहाँ आकर धोखा खा जाते हैं—इसलिए इस उलझन का सुलझाना भी अत्यावश्यक है। सत्यार्थप्रकाश की हस्तलिखित दो कापियाँ हैं, उनमें पहिली १८७५ वाली है, जो दयानन्द ने अपने हाथ से लिखी है। दूसरी उनके मरने के बाद प्रयाग में कई मनुष्यों ने मिलकर लिखी है—जिसकी सूचना वेदप्रकाश के लेख से हमको मिलती है। इन दोनों कापियों में दूसरी प्रयाग वाली बड़े २ करतवों से भरी है। दयानंद के नाम से उसमें हस्ताक्षर किये गये हैं—और तारीख भी चतुरता से बनाई गई है। इसका पता अजमेर में जाने से लग जाता है। जो मनुष्य इस भेद से परिचित नहीं हैं उनसे समाजी कहते हैं कि दोनों प्रतियाँ दयानन्द की ही लिखी हैं—परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं।

लेखराम और आत्माराम

ये दोनों महानुभाव संस्कृत विद्या में कितने योग्य हैं, यह जनता स्वयं जानती है। लेखराम थोड़ी भी अरबी जानते थे। और आत्मा रामजी अंग्रेजी जानते हैं। पंजाब की प्रतिनिधि में एक उपदेशक और दूसरे मंत्री रह चुके हैं। इन दोनों ने मिलकर "आवश्यकतानुसार" स० प्र० में परिवर्तन किया है, परन्तु यह आवश्यकता क्यों पड़ी इसका उत्तर सिवाय मौनावलम्बन के अन्य कुछ नहीं है।

डूबते को तिनके का सहारा

समाजियों को जब अन्य कोई बचने का मार्ग नहीं मिलता है तब "लिखने और शोधने वालों की भूल" का सहारा ले लेते हैं। परन्तु यह बात कोई बुद्धिमान नहीं मान सकता है-क्योंकि पुस्तक का नफा या नुकसान प्रेस वालों को नहीं भुगतना पडता है किन्तु जो पुस्तक का संपादन करके प्रेस में दाम देकर छपवाता है उसको भुगतना पड़ता है। सत्यार्थ-प्रकाश के षष्ठ संस्करण में मुखपत्र पर १॥) मूल्य छपा है—परन्तु उसी के दूसरे मुख पत्र पर २) मूल्य छपा है। इसी प्रकार तेरहवें संस्करण के बाहिरी टाइटिल पेजपर १॥) मूल्य छपा है और भीतरी टाइटिल पेज पर १) मूल्य छपा है—इसी को प्रत्यक्ष में धोखा देना कहते हैं। यदि यह बात प्रेस के कर्मचारियों की असावधानी से हुई है तब तो उन पर दावा करना चाहिए—परन्तु १॥) के स्थान में १) और २) के स्थान में १॥) प्रेस के कर्मचारी नहीं कर सकते हैं। इसलिए अपनी गलती प्रेस वालों के मत्थे मढ़ना सरासर अन्याय करना है।

परिवर्तन की आवश्यकता

सत्यार्थप्रकाश में बार २ परिवर्तन क्यों किया जाता है। इसका भी भेद बहुत से सज्जनों को मालूम नहीं है। सनातन धर्मावलंबी विद्वानों के साथ में जब समाजी अपनी गलती से शास्त्रार्थ करने को उद्यत हो जाते हैं उस समय समाजियों की बड़ी दुर्दशा होती है। उस दुर्दशा का अनुभव करके फिर समाजी एक नैमित्तिक अधिवेशन करते हैं। उसमें वही बातें प्रस्तुत की जाती हैं जिनका उत्तर तीन काल में भी समाज की ओर से नहीं दिया जा सकता है। अंत में और कुछ उपाय न देखकर स० प्र० के पाठ का मनमाना परिवर्तन होता है—और दयानंद की असमर्थता पर शोक प्रकट किया जाता है। इतने पर भी जब काम नहीं बनता है तब समाजी अपने को बचाने के लिए एक मार्ग निकालते हैं। वह मार्ग "प्रेस के कर्मचारियों की असावधानी" है।

सत्यार्थप्रकाश की बाबत अदालत का फैसला

सन् १८९२ ईस्वी के पेशावर वाले मुकद्दमें में जो आर्य-समाजियों ने एक सनातनधर्मी पर दावा दायर किया था वह अदालत से खारिज हुआ—और उसके फैसले में मजिस्ट्रेट साहब ने जो तहरीर फरमाई है वह हस्बज़ैल है।

"इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि दयानन्द की ख़ास धर्म पुस्तक सत्यार्थप्रकाश में फने मुज़ामत (कोकशास्त्र) की तालीम दर्ज है। मुद्दई खुद इस बात को तसलीम करता है कि वह असूलों पर जिनमें एक ब्याही हुई औरत को अपने असली खाविंद (यानी पति) को जीते जी किसी दूसरे ब्याहे हुए आदमी के साथ हमबिस्तरी (यानी साथ सोने)

की हिदायत है। यह रस्म बेशक वो बिला शुबाह ज़िनाकारी (यानी व्यभिचार) है। इस वास्ते यह जिक्र करते हुए कि दयानंद के मुरीदान मुंदर्जा वाला असूलों पर ईमान लाते हुए रस्म जिनाकरी का आगाज़ कर रहे हैं। और अगर इन असूलों पर इनको यकीन इसी तरह रहा तो वह इसी जिनाकारी (यानी व्यभिचार) को ज्यादा तरक्की देंगे"।

इस फैसले की अपील साहब शेशन जज की अदालत में आर्यसमाज की तरफ से दायर हुई, जो वहाँ से भी खारिज हुई। फैसले में साहब शिशन जज ने जो रिमार्क दिया है वह नीचे लिखा जाता है।

'दयानंद के असूल इस किस्म के असूल हैं कि वह अहलेहनूद व दीगर मज़ाहब के हुस्न व इख़लाक़ के सख्त अमानत करते हैं, और इस किताब सत्यार्थप्रकाश के चन्द हिस्से खुद भी निहायत फ़ोश हैं"।

यह अदालत का फैसला "धर्मोदय" के संपादक ने अदालत से मँगांकर वर्ष १ अंक २ पृष्ठ ८०।८१ पर छापा है।

सत्यार्थप्रकाश का रहस्य

बहुत से अनपढ़ लोग प्रायः कहा करते हैं कि स्वा० द० ने सत्यार्थप्रकाश धार्मिक दृष्टि से लिखा है—परन्तु विचारपूर्वक आद्योपान्त इसके पढ़ने से मालूम होता है कि यह ग्रंथ हिन्दुस्तान को इंगलैंड बनाने के लिये लिखा गया है और उसमें स्वराज्य का भली प्रकार बीज बोया गया है—हम इसके कतिपय उदाहरण देते हैं।

(१) जबसे पुलिस का प्रबन्ध भया है तब से बहुधा अन्यथा व्यवहार ही सुनने में आता है, और गाय बैल भैंसी

छेरी और मेंढ़ी आदिक मारे जाते हैं। इससे प्रजाको बहुत क्लेश प्राप्त होता है॥ संस्करण १ पृ० ३८६

(२) अब अभाग्योदय से, और आर्यों के आलस्य प्रमाद परस्पर के विरोध से ..आर्यावर्त में भी आर्यों का अखंड स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रांत होरहा है। संस्करण १३ पृ० २३७

(३) दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।२३८

(४) मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता माता के समान, कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। पृ० २३८

(५) सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यंत चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल में ही हुये थे। अब इनके संतानों का अभाग्योदय होने से राज्यभ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रांत होरहे हैं॥ पृ० २६० । २६१

ये पांच उद्धरण हमने यहां पर उद्धृत किये हैं—इनके अतिरिक्त और भी कई स्थलों में स्वराज्य संबन्धी अंश विद्यमान है जिसका वर्णन हम इसी ग्रन्थ में अन्यत्र करेंगे। स्वा० द० को पुलिसपर बड़ा क्रोध आया मालूम पड़ता है—और पुलिस वृटिश सरकार की है उसके साथ विरोध करना वर्तमान राज्य के साथ विरोध करने का पहिला उदाहरण है। हिन्दुस्तान में वृटिश राज्य स्वामी जी के मत में समाजियों के दुर्भाग्य से प्रवृत्त हुआ है—इसीलिये अभाग्य शब्द

की दे। आवृत्ति उपरोक्त पांच उद्धरणों में हुई है। अखंड-स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय, यह चार शब्द वृटिश सरकार के शासन को—बड़ा ही भयंकर बता रहे हैं—और विदेशी वृटिश राज्य का—हिंदुस्तान में शासन रहना-स्वा० द० के मत में पादाक्रमण करना है-इतना ही नहीं-जब तक हिन्दुस्तान में वृटिश राज्य रहेगा. तब तक आर्यसमाजियों के लिये "दुर्दिन" का रहना है-माता पिता के समान होते हुए भी—वृटिशराज्य के नेता-समाजियों की आंखों में खटक रहे हैं—इसी लिये पूर्ण सुखदायक "नही है" लिखा गया है। इतना लिखने पर भी-जब आपका पेट न भरा तो आपने इस प्रकार लिखा है—देखिये—

हरि कहते हैं वन्दर को—उस देश के मनुष्य अब भी रक्त मुख अर्थात् वानर के समान-भूरे नेत्रवाले होते हैं, जिन देशों का नाम इस समय यूरोप है उन्हीं को संस्कृत में हरिवर्ष कहते थे। पृ० २७६

परन्तु लिखते लिखते एक बात भूल गए—किसी मंत्र का पता नहीं दिया—जिसमें यूरोप को हरिवर्ष लिखा हो—हमारी अनुमति में इस प्रकार जिस ग्रन्थ में स्वराज्यवाद भरा पड़ा हो और विदेशियों के शासन को बुरा बताया हो-उस ग्रन्थ के पढ़ने वाले कितने राजभक्त हो सकते हैं इसे जनता ही जान सकती है ?

दयानन्दका आदेश

जो उन्नति करना चाहो तो "आर्यसमाज" के साथ मिल कर उसके उद्देशानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये—नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। पृ० ४०३।

यह स्वा० द० का घोषणा पत्र क्या इशारा कर रहा है, उन्नति से—यहां पर—देश में स्वराज्य का होना अभिप्रेत है, उसमें मिलकर काम करना—होमरूलर—बनने का संकेत है। इन सब बातों को विचार कर अंत में यही अभिप्राय निकलता है कि—न तो यह पुस्तक ही—धर्मग्रंथ कहाने योग्य है—और न इसके मानने वाले ही धार्मिक कहे जा सकते हैं।

ऋषियों को गालियाँ

सत्यार्थप्रकाश में आर्यसमाजियों के अतिरिक्त अन्यमत वालों को जिस कदर गालियां दी गई हैं उसका नमूना हम यहां पर दिखलाना चाहते हैं। सनातनधर्म के प्रधान नेता, भगवान श्री १०८ वेदव्यास जी महाराज को "निर्दयी, कसाई, पोप" यह तीन "रिजर्व" गालियां मिली हैं। और ये गालियाँ स० प्र० के ३६६ पृष्ठ पर लिखी हुई हैं।

(१) वाह रे वाह, भागवत के बनाने वाले लाल बुझक्कड़! क्या कहना तुझ को ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई निपट अंधा ही बन गया।

(२) इन महा झूंठ बातों को वे अंधे, पोप, और बाहर भीतर की फूटी आंखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं इन भागवतादि पुराणों के बनाने हारे क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गए वा जन्मते समय मर क्यों न गए (पृ० ३५०) यह मुस्तकिल फंड में जमा हुई गालियां श्रीशुकदेव और सनातन वैदिक धर्मावलम्बियों को भेट में दी गई हैं। दूसरे संस्करण से चौथे संस्करण तक की पुस्तकों में मूर्तिपूजकों को "भटियारे के टट्टू और कुंभार के गदहे के समान" पृ० ३३१ में कह दिया है। हमारी अनुमति में, यह सब गालियां ग्रन्थों और

व्याख्यानों में समाजियों को, दयानन्द को, और विरजानन्द को धन्यवाद के साथ वापिस मिलनी चाहिएँ। सूद न सही, मूल का मूल देने में क्या संकोच है। और जो सज्जन बिलकुल हिसाब किताब बेबाक करना चाहें वह मय सूद के असली रकम वापिस कर दें। भुगतान का यही अच्छा तरीक़ा है।

ग्रन्थ लिखने का कारण

जहाँ कहीं व्याख्यान अथवा शास्त्रार्थ में आर्यसमाजियों के सामने सत्यार्थप्रकाश की बातें रख दी जाती हैं वहां समाजियों से और कुछ तो उत्तर बनता नहीं केवल यह कह कर पिंड छुड़ाते हैं कि "अमुक अमुक बातें जो कि अन्य ग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध की गई हैं वह उन उन आचार्यों के मत को जतलाने के लिए है। स्वा० द० का यह मत नहीं है" इत्यादि। अब हम इस ग्रन्थ में यह बतलावेंगे कि स० प्र० में अन्य आचार्यों का मत जो कि समाजियों को अमान्य है कितना है और जिन वेदमंत्र प्रतिपादित वैदिक बातों का सर्वसाधारण के समक्ष उनको धोखा देने के लिए डिंडिम पीटा जाता है वे कितनी हैं इस लिए स० प्र० की वैदिकता का भंडा फोड़ना इसके लिखने का प्रधान कारण है।

आवश्यक सूचना

सर्व साधारण पाठकों को भ्रम न हो इसलिये यह सूचना दीजाती है कि इस ग्रन्थ में हम सुविधा के लिये समुल्लास का अंक न देकर केवल सत्यार्थ प्रकाश के पृष्ठों का अंक देंगे—और वह अंक भी तेरहवें एडीशन के पुस्तक के होंगे—जहां कहीं पर स० प्र० के अन्य संस्करणों का उल्लेख होगा वहां उस उस संस्करण का अंक दे दिया जावेगा।

दूसरी बात यह है कि स्वामी दयानन्द ने—सत्यार्थप्रकाश में जो जो उपहार हमारे परम माननीय प्राचीन आचार्यों को दिया है हम उसकी वापिसी दयानन्द और विरजानन्द के नाम कर देंगे-इसलिये-कोई समाजी हमसे शिकायत न करें क्योंकि-अपने ग्रन्थ में उपहार का लिखना हमने दयानन्द और उनके ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश से सीखा है। अन्यत्र से नहीं-

आलोचन का प्रकार

इस ग्रन्थ में सत्यार्थप्रकाश का आलोचन किस प्रकार से होगा यह बतलाना अत्यावश्यक है। देखिए इसमें प्रत्येक *समुल्लास की समीक्षा अलग अलग होगी और उसमें* भी खास तौर पर—

(१) वेद के प्रमाण कितने हैं (२) अन्य ग्रंथों के प्रमाण कितने हैं (३) दयानंद ने इनका क्या अर्थ किया है (४) अर्थ उचित है वा अनुचित (५) अनुचित अर्थ पर विचार (६) दयानन्द ने जिन विषयों का अवैदिक कह कर खंडन किया है उनका वेदमन्त्रों द्वारा प्रतिपादन (७) दयानंद की नवीन कल्पित वार्तों का निदर्शन (८) जिन वार्तों का वेदों में नाम तक नहीं है और समाजी जिनको वैदिक बताकर धोखा देते हैं उनका सविस्तर विचार (९) कुरान बाइबल आदि ग्रंथों में जिन वैदिक वार्तों का रूपान्तर से वर्णन है और समाज जिन को अवैदिक मान कर मज़ाक में उड़ाता है उनका निदर्शन (१०) सत्यार्थप्रकाश में सन् १८७५ से लेकर अब तक कितना कितना भेद होता गया है इसका निर्देश रहेगा जिससे सत्यार्थप्रकाश के प्रत्येक समुल्लास की अलग अलग कलई खुल जावेगी। ग्रन्थकार

उपक्रम

पिकं हि मूकीकुरु धूमयोने!
भेकं च सेकैर्मुखरीकुरुष्व ॥
किं तु त्वमिंदोः प्रपिधाय बिम्बं
खद्योतमुद्योतयसीत्यसह्यम् ॥ १ ॥

अर्थान्तरन्यासेनास्मिन् पद्ये—आर्यसामाजिकाआक्षिप्यन्ते, धूमयोनिशब्दःकलुषितयोनितासूचकः, कलुषिताः संकरभावमापन्नाः पुरुषा एव योनिर्यस्येति विग्रहः। पिकशब्दो द्विजसूचकः सच राजन्यविशेषः। भेकाः कर्णकटुरटंतो नीचोपदेशकाः, इन्दुशब्दो द्विजराजसूचकः सच ब्राह्मणजातेः। द्विजेषु क्षत्रियादिषु राजन्त इति द्विजराजाः। खद्योता नीचजातिविशेषाः। खे शून्ये विद्यारहिते देशे द्योतन्त इति खद्योताः॥ शेषं सुगमम्।

स्वामी दयानन्द कौन था?

सत्यार्थप्रकाश के विवेचन में उसका संपादक कौन था? उसने यह ग्रन्थ क्यों लिखा? इत्यादि बातों का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिये लगे हाथ इनको भी निबटाते हैं। दयानन्द के विषय में अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ वर्त-

मान समय में उपलब्ध होती हैं। कोई इनको "कापड़ी" कहते हैं,कोई इनको ब्राह्मण कहते हैं,परन्तु इनके वंश का ठीक ठीक पता न लगने के कारण—अब कोई ठीक ठीक नहीं कह सकता है कि क्या बात है। "दयानन्दछलकपटदर्पण" नामक ग्रन्थ में–इनके बारे में तीन बातें छपी हैं (१) मोरवी-प्रांत में इनका होना (२) मूल शंकर नाम का पहिले होना (३) कापड़ी जाति में पैदा होना। इनमें यदि पहिली दो बातें सत्य हैं तो तीसरी भी सत्य होनी चाहिये-परन्तु समाजी दो बातें मान कर तीसरी के मानने में आनाकानी करते हैं-यह उचित नहीं है। हमारी संमति इन दोनों से भिन्न है। कापड़ी जाति गुजरात में बहुत है, शिव मन्दिरों में नाचना गाना इसका काम है, अब स्वा० द० के वंशका नाम और निशान नहीं है।

वंश क्यों छिपाया?

संसार में प्रत्येक मनुष्य अपने कुल अथवा वंशके प्रसिद्ध करने में अविश्रांत लगा हुआ दीखता है और अपने वंश की प्रसिद्धि में ही अपने को भी प्रसिद्ध समझता है। परन्तु *सत्यार्थप्रकाश* के संपादक ने अपने वंश तथा वंशजों को छिपाया इसका कुछ प्रधान कारण अवश्य है। "नंगी क्या न्हाय और क्या निचोड़े" इस कहावत के अनुसार जब वंश ही नहीं है तब उसको प्रसिद्ध क्या किया जाय?

अंधपरम्परा

आर्यसमाज का प्रवर्तक दयानन्द अंधे विरजानन्द का चेला था यह सभी को मालूम है। इसीलिये आर्यसमाज में

अभी तक "अंधपरंपरा" चल रही है। जिसको देखो, जहां देखो, आंख खोल कर नहीं देखता है--अंधविश्वासी बना हुआ है, और जब आंख से देखकर काम करने लगता है तब समाज में नहीं रहता है। पक्का सनातनी होजाता है।

सत्यार्थप्रकाश क्यों बना ?

मथुरा में एक बार रंगाचारी से विरजानन्द का व्याकरण में विचार हुआ था, उसमें विरजानन्द को रंगाचारी ने बेतरह पछाड़ा था, विरजानन्द इस ताक में लगा रहा कि--मैं इसका किस प्रकार बदला लूं। एक दिन अकस्मात् दयानन्द आगया-बस फिर क्या था, "डूबते को तिनके का सहारा" काफी होता है, विरजानन्द ने दयानन्द को झट लालच दे कर अपना शिष्य बना लिया और कहा कि दक्षिणा में रंगाचारी को परास्त करो-और-इनके मत का खंडन करो, इसीलिये स्वा० द० ने स० प्र० बनाया और समाज स्थापित किया, जिसका बीज ही झगड़े पर बोया गया हो वह समाज शांति को कब चाहेगा, इसीलिये हमेशा समाज में आपस के अनेक झगड़े लगे रहते हैं, अंत में हम तो यही कहेंगे कि "अंधे को अंधेरे में बड़ी दूर की सूझी"।

विरजानन्द कौन थे ?

पंजाब में कर्तारपुर जिले के गङ्गापुर नामक ग्राम में एक नारायणदत्त था। उन्हीं के यह लड़के थे। यह दो चार अक्षर भी जानते थे परन्तु झगड़ालू पक्के थे। झगड़े के कारण ही इनको अलवर से भागना पड़ा और झगड़े के कारण ही मथुरा में कई बार इनकी दुर्दशा हुई, यह सनातनी पंडितों को चिढ़ाने के लिए सिद्धांतकौमुदी पर रोज जूते लगवाते थे यह

बात प्रयाग की प्रसिद्ध पत्रिका "सरस्वती" में भी पिछले दिनों छपी थी। इस पर संपादक ने जो नोट दिया था वह बड़ा ही मज़ेदार है और पढ़ने लायक है, उस नोट से चिढ़ कर प्रतिनिधि के मंत्री ने एक आर्डर भी निकाला था जो उन की लियाकत का आला नमूना है।

दयानन्द के स्वार्थत्याग का नमूना

आज कल के समाजी यत्र तत्र कहते फिरते हैं कि दयानंद ने देश का बड़ा उपकार किया है परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है। उपकार तो क्या अपकार जरूर किया है और अपने स्वार्थ का खूब सम्पादन किया है देखिए "देश काल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए बहुत से स्वार्थी विद्वान् अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं" सत्यार्थप्रकाश पृ० ३१० यह लेख इसी बात को सिद्ध करता है। अपने आत्मा का हनन करके भी स्वा० द० ने अपने पक्ष का स्थापन किया और सन् १८७५ वाले स० प्र० के ३०३ पृष्ठ में गोहत्या तक सिद्ध कर दी सो किस कारण? यही तो स्वार्थत्याग का नमूना है, यदि ऐसा स्वार्थ साधन न करते तो बूट, सूट, टोप, भंग, हुक्का कहां से मिलता जिसका नमूना मुम्बई और आगरे का चित्र है।

कृतघ्नता इसी को कहते हैं

सनातन धर्मावलम्बियों ने इन आधुनिक दयानंदियों का कितना उपकार किया इसका उल्लेख स्वामी दयानंद ने स्वयं किया है जो इस प्रकार है।

"विषादप्यमृतं ग्राह्यम्"

"विष से भी अमृत के ग्रहण करने के समान, पोपलीला से बहकाने में से भी आर्यों का जैन आदि मतों से बच रहना मानों विष में अमृत के समान गुण समझना चाहिये" स० प्र० पृ० २९१

इसका आशय यह है कि यदि जैन और बौद्धों के समय में सनातन धर्म रक्षा न करता तो आज हिन्दू समाज का नाम तक न होता, हिन्दू जाति का बचाना केवल सनातन धर्म का ही काम है। इस बड़े उपकार को भूल कर जो समाजी सनातनियों को बुरा कहते हैं वह सब कृतघ्नता का ही परिचय देते हैं। दयानंद ने भी बार बार सनातन धर्मावलंबियों को पोप, लालबुझक्कड़, गधा, आदि शब्द कह कर इसी बात का पूरा पूरा परिचय दे दिया है।

रमाबाई और दयानन्द

अजमेर में छपे हुए स्वा० द० के जीवन चरित्र में २६७ पृष्ठ से लेकर ३०८ पृष्ठ तक रमाबाई के साथ स्वामी दयानन्द का पत्र व्यवहार छपा है, उस को देख कर दयानद का अखंड ब्रह्मचर्य भी धूल में मिल जाता है। मैथुन आठ प्रकार का होता है। उसमें स्त्री के गुणों का श्रवण करना, गुह्यभाषण करना आदि सब विषय का पूर्वरूप है। स्वा० द० ने विषय संबन्धी सभी प्रकार का विवेचन किया था इसी लिए स० प्र० में [योनि संकोचन विधि, वीर्याकर्षण-विधि, सालम मिश्री के नुसखे का प्रयोग] लिखा। अब हम इसका पूरा पूरा विवरण देते हैं।

भारतवर्ष के दक्षिण भाग में माइसोर राज्य अति प्रसिद्ध है, वहाँ सह्य पर्वत की चोटी पर गंगामूल ग्राम में रमाबाई का जन्म हुआ। रमाबाई बहुत विदुषी थी। दयानंद की विद्वत्ता उस के सामने तुच्छ है जिनको देखना हो दोनों का पत्र व्यवहार पढ़ें तब स्वयं मालूम हो जायगा। स्वामी दयानन्द उसकी बातों पर मुग्ध हुए अंत में आपस में पत्र व्यवहार होने लगा।

संवत् १९३६के आषाढ़ में दयानंद की ओर से पहिला पत्र रमाबाई के नाम गया, जिसमें दयानंद ने रमा से इतनी बातें पूंछीं—

"आपकी कीर्ति सुनकर मनमें आनन्द हुआ। श्रीमती पर पत्र द्वारा अपना अभिप्राय प्रकाश कर आपका भी अभिप्राय इसी प्रकार जानना चाहता हूँ...मैंने सुना है कि आप विवाह के लिये स्वयंवर विधि से अपने तुल्य गुण कर्म स्वभाव वाले कुमार उत्तम पुरुष को ढूंढ़ रही हैं यह सत्य है वा नहीं? ...यदि यहाँ आने की इच्छा हो तो आजाइये। जितना धन व्यय रास्ते में होगा उतना आपको यहाँ मिल जावेगा"।

इस पत्र की कापी अभी तक अजमेर में है, उसको मनमाने ढंग से पत्रव्यवहार में छापा है। और अंत के हस्ताक्षर नहीं छापे हैं। संवत् १९३६ आषाढ़ की पूर्णिमा को रमा के पास दयानंद ने दूसरा पत्र भेजा जिसमें इतनी बातें पूंछी।

"श्रीमती.. आपका प्रेमास्पद आनन्दप्रद पत्र मिला। उस के देखने से अतीव संतोष हुआ। श्रीमती को थोड़ा सा कष्ट देता हूँ उसे क्षमा करेंगी।"'श्रीमती का जन्म कहाँ का है, आयु कितनी है, ...अब आपके पास कोई है या आप एका-

किनी है । . यदि मार्गव्यय के अर्थ धन की अपेक्षा है तो शीघ्र सूचित कीजिये कि कितना धन वहाँ भेजा जावे"

इसके उत्तर में १।८।१८८० को रमाबाई ने कलकत्ते से पत्र लिखा उसमें रमा ने अपनी जन्मभूमि का वृत्तान्त लिखा और अपनी अवस्था २३ वर्ष की लिख दी और लिखा कि मेरे साथ अन्य कोई नहीं है । इसके बाद के पत्र समाजियों ने नहीं छापे हैं। अन्त में रमाबाई मेरठ में स्वामीजी के पास कई मास तक ठहरी। भला संन्यासी को स्त्री की उमर पूछने से उसको सफर खर्च भेजने से क्या मतलब ? इस प्रकार के व्यवहार होते हुए भी समाजी उनको ब्रह्मचारी मानते हैं कितने खेद की बात है।

सत्यार्थप्रकाश में मद्यपान

"औषध के हेतु रोग निवृत्त होता होय तो चौगुना जल और एक गुण मद्य ग्रहण लिखा है । सुश्रुतादिक वैद्यक शास्त्र में रोगनिवृत्ति के हेतु अभक्ष्य भी भक्ष्य हो जाता है । १ सं०, पृ० ३०६

दयानन्द के इस लेख से मद्यपान जीवनरक्षा के लिए बुरा नहीं है। इसीलिए बहुत से समाजी ऐसा करते हैं। रहा मांस उसके खाने के लिए भी ३०१।३०२।३०३ पृष्ठ में स्वा० द० ने इजाजत देदी है, अब बाकी क्या रहा।

बड़ा चोर किसको कहा जाता है ?

वाच्यर्था नियताःसर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तांतुयःस्तेनयेद्वाचं ससर्वस्तेयकृन्नरः ४।२५६

मनुस्मृति का यह पद्य स० प्र० के १०६ पृष्ठ पर स्वा० द० ने लिखा है। इसका अर्थ यह है कि समस्त अर्थ वाणी में नियत हैं। वाणी उनका मूल है। वाणी से वह निकले हैं। उस वाणी को जो चुराता है वह मनष्य सब पदार्थों की चोरी करने वाला होता है। स्वामी दयानन्द ने वाणी को चुराया, इसका उदाहरण हम अन्यत्र देंगे।

नवजीवन का ऋष्यंक

सन् १९१८ ई० में नवजीवन पत्र का जो ऋष्यंक निकला था उसमें नरदेवजी का एक लेख था जिसका भाव इस प्रकार है। स्वामी दयानंद न तो ऋषि थे, न महर्षि थे, उनके नाम के आगे पीछे जो लोग इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते हैं वह बुद्धिहीन हैं क्यों कि निरुक्त में

साक्षात्कृतधर्माणऋषयः १

ऋषयो मंत्रद्रष्टारः २

ऋषिर्दर्शनात् ३

ऋषि का लक्षण इस प्रकार किया है। मंत्र के साक्षात्कार करने वाले को ऋषि कहते हैं। मंत्रों के ऊपर अथवा "आर्षानुक्रमणी" में जिनका नाम उपलब्ध होता है वे ही ऋषि कहे जा सकते हैं। अन्य नहीं, इसी लिए दीक्षित ने कौमुदी के आरम्भ में पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि इन तीनों को मुनि मान कर "मुनित्रयं नमस्कृत्य" लिखा है। स्वामी दयानंद मंत्रद्रष्टा न होने के कारण ऋषि नहीं थे। जब ऋषि ही नहीं तब महर्षि कैसे ? हाँ उनको मुनि कह सकते हैं क्योंकि उन्होंने मनन किया है।" इत्यादि। अब हम इनके मुनिपने की भी कलई खोल देते हैं।

मुनि का लक्षण

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधःस्थितधीर्मुनिरुच्यते २।५६

भगवद्गीता के इस पद्य में मुनि का लक्षण लिखा है। इसका अर्थ यह है कि दुःख में जिसका मन उद्विग्न न हो, और सुख में जिसकी इच्छा न हो, राग भय क्रोध जिसमें न हों, इतने पर भी जिसकी बुद्धि निश्चल हो वह मुनि कहाता है। दयानंद में यह लक्षण लेश मात्र भी नहीं घटता है। क्योंकि ग्रन्थ के प्रत्येक संस्करण में जिसकी बात बदल जावे वह "स्थितधी" नहीं कहा जासकता है। आज तक किसी मुनि के ग्रन्थ में लेश मात्र भी परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। दर्शनकारों ने जो एक बार लिख दिया अजर अमर हो गया। पाणिनि के सूत्र अभी तक ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं, वाल्मीकि और व्यास की रचना अविच्छिन्न एक रूप अभी तक बह रही है। परन्तु सत्यार्थप्रकाश दूसरी बार ही आकाश पाताल हो गया। ग्रंथ ही नहीं स्वयं भी दयानंद ने कई रंग बदले, कभी मूलशंकर हुए, कभी शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी हुए, कभी दयानन्द हुए, कभी शैव रहे, कभी तांत्रिक, कभी भंग पीते रहे, कभी सूट बूट पहिना। कभी दिगंबर रहे, कभी मुंबई के होटल में उतरे, कभी बन में रहे, कभी नन्हीं जान का खंडन किया, कभी रमाबाई से पत्रव्यवहार, राग का तो कहना ही क्या है। लोभ इतना कि शाक भी)॥ से ज्यादह न आवे। मूली के बर्क दिन में हों तो पत्ती रात में बनें। इतने रंग रूप बदलने वाला दयानंद मुनि कैसे बन सकता है।

मित्रों का सूचना

किंशुके शुकमातिष्ठ
चिरभाविफलेच्छया ॥
वाह्यरंगप्रसंगेन
के के नानेन वंचिताः ॥१॥

अय तोते ! तू अच्छे फल की इच्छा से इस टेसू पर बहुत देर मत रह। इसने अपनी वाहिरी चमक से किस किस को नहीं ठगा। इस पद्य में किंशुक शब्द से "पलाश" उपलक्षित है। और पलाश पद से आर्यसमाज, "पलं मांसमश्नातीति पलाशः" शुकपद से द्विज और द्विज से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य उपलक्षित है।

अस्यां सखे वधिरलोकनिवासभूमौ
किं कूजितेन किल कोकिल कोमलेन ॥
एते हि दैवहतकास्तदभिन्नवर्णं
त्वां काकमेव कलयंति कलानभिज्ञाः ॥२॥

हे मित्र कोकिल ! तू जो इस वहरे मनुष्यों की बस्ती में सुरीला राग अलाप रहा है इससे कुछ फल न होगा। क्योंकि ये विद्या विहीन वहरे तुझको रंग में एक सा जानकर कौआ ही समझ रहे हैं।

रे बाल कोकिल करीरमरुस्थलीषु
किं दुर्विदग्ध मधुरध्वनिमातनोपि ।
अन्य: स कोपि सहकारतरुप्रदेशो
राजंति यत्र तव विभ्रममापितानि ॥३॥

अए भोले भाले कोयल इस करील के काँटेदार निर्जल देश में तू क्यों बार बार मधुर भाषण कर रहा है वह आम का वन दूसरा ही है जिसमें तेरी बोली काम कर जाती है।

किं कोमलै: कलरवै: पिक तिष्ठ तूष्णी-
मेते तु पामरजना: स्वरमाकलय्य ॥
को वा रटत्ययमये निकटे कठूनि
रे वध्यतामिति वदन्ति गृहीतदंडा: ॥४॥

हे पिक! तू क्यों बार बार बोल रहा है चुप होकर बैठ। यह जो तेरे पास रहने वाले नीचजन हैं वह तेरे स्वर को सुनकर यह कौन है, पास में बैठकर क्या बक रहा है, इसको मारो, हाथ में डंडा लेकर ऐसा कहेंगे।

सखे त्वं कलश: किन्तु
स्नेहवंतो वयं तिला:
आवयोर्नियतं योग:
श्राद्धकाले भविष्यति ॥ ५ ॥

हे मित्र तू कलम (धान) है, परन्तु हम भी स्नेह भरे तिल हैं। अब हमारा और तुम्हारा निश्चित रूप से मिलना केवल श्राद्ध के समय होगा। क्योंकि बिछड़े हुए तिल तंडुल श्राद्ध में ही एकत्र होते हैं।

ग्रन्थकार

भूमिकालोचनम्

अवतोः कुवलयमक्ष्णो-
रंजनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनरमणीनां
मंडनमखिलं हरिर्जयति ॥१॥

इस भूमिका में ७ पृष्ठ है। एक उपनिषद् का और एक गीता का प्रमाण दिया है। दूसरे पृष्ठ पर ग्रन्थ भर का विषयानुक्रम है। निम्नलिखित बातें इसमें आलोचनीय है, स्वामीदयानन्द कहते हैं कि—

"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ...बनाया था उस समय... संस्कृत भाषण करने...और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का परिज्ञान न था। अब भाषा लिखने और बोलने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है, कहीं कहीं शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है—परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है"

इस पर आलोचन नं० १

दयानन्द का जन्म सन १८२४ ई० में हुआ ऐसा जीवन चरित्र से मालूम होता है। और सत्यार्थ प्रकाश का संपादन

सन् १८७४ ई० में किया, इतने बीच का समय ५० वर्ष का होता है—इतने समय तक आप हिन्दी लिखना तक नहीं जानते थे—रहा संस्कृत का ज्ञान—उसका नमूना "गुडस्य को भावः" यह पं० अंबिकादत्त जी ने लिखा ही है। जो पुरुष ५० वर्ष तक स्वयं अल्पज्ञ होने की स्वीकारी देता हो—उसके ग्रन्थ की बलिहारी है। वास्तव में यह सब अपने दोषों को येनकेन प्रकारेण छिपाना है। यदि पहिला स० प्र० अशुद्ध भाषा से बन गया तो १० वर्ष तक उसको बिकने क्यों दिया ? पुस्तक के बिक जाने पर गलती का नोटिस देना—अनौचित्य नहीं तो और क्या है" ? शब्द वाक्य रचना के भेद होने पर भी अर्थ में भेद न हों यह कौन मान लेगा" शब्द के भेद होने पर अर्थ में भेद होना स्वाभाविक बात है। जो इस तत्त्व को नहीं समझते हैं वे मूढ़ नहीं तो और क्या हैं ? पहिले स० प्र० में जो बातें छपी हैं—उनमें से अनेक पद्य, प्रकरण, निकाल दिये गए हैं, देखिये—

प्रथम संस्करण के ३७ पृष्ठ पर गायत्री मंत्र का विभक्ति-निर्देशसमेत पदच्छेद था जो निकाल दिया गया (२) ३६ पृष्ठ में "अंगुष्ठमूलस्यतले" यह मनु का श्लोक था जो निकाल दिया, (३) ५५ पृष्ठ में "सहनाववतु" यह मंत्र गुरु शिष्य प्रार्थना में था जो निकाल दिया (४) ६६ पृष्ठ में—

"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया-प्रवर्ततइत्याप्तः" यह वात्स्यायन भाष्य छपा था जो निकाल दिया (५) ८५ पृष्ठ में "उपरिचरवसु" का प्रसंग था, जो निकाल दिया, (६) ६१ पृष्ठ में "सैषा नन्दस्य मीमांसा भवति" यह तैत्तिरीय उपनिषद् का पाठ था जो निकाल

दिया (७) ११५ पृष्ठ में "वैवाहिकोविधिः स्त्रीणां" यह मनुका श्लोक था, जो निकाल दिया (८) ३०३ पृष्ठ में "गोमेध" प्रकरण था जो सब का सब निकाल दिया (९) ३३४ पृष्ठ में "गतानुगतिकोलोकः" यह पद्य था जो निकाल दिया (१०) ३६० पृष्ठ में "सहस्र भगदर्शनान्मुक्तिः" लिखा था जो निकाल दिया; (११) ३६४ पृष्ठ में दुर्गापाठ के दो श्लोक थे जो निकाल दिये गए (१२) ३७९ पृष्ठ में "शीतले त्वं जगन्माता" यह पद्य था जो निकाला गया।

इस प्रकार के अनेक मंत्र, सूत्र; श्लोक, निकाल कर दूसरे संस्करण में अर्थ का अनर्थ किया है, इतने पर भी लिखा है कि "अर्थ का भेद नहीं किया है" यह मिथ्याभाषण नहीं तो और क्या है।

भूमिका के ३ पृष्ठ पर आप लिखते हैं कि "इस ग्रन्थ में जो कहीं भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल चूक रह जाय—उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा"

आलोचन नं० २

एक भूल हो तो बतावें-पहिले संस्करण में श्राद्ध प्रकरण भूल से छप गया ! ग्रन्थ भर में गंदी हिन्दी भूल से बन गई ! अब दुबारा छपने पर भी भूल चूक की माफ़ी मांगी गई ! कहिये तो सही— ? आपतो दूसरा एडीशन छपने से पहिले ही मर गए-भूल चूक की सूचना किस पते पर भेजें ? अब ज़रा पता तो बता जाइये।

भूमिका के ७ पृष्ठ पर आप लिखते हैं कि "जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबल, और क़ुरान को प्रथम ही

बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग....करता हूँ वैसा सबको करना योग्य है"।

आलोचना नं० ३

सनातनियों को धोखा देने के लिये यहाँ पर "पुराण" से भी गुणग्राही बनने का दावा किया है, परन्तु जैनों के ग्रन्थों में जो नास्तिकता थी उसका स० प्र० में ज़रूर आदर है। बाइबल और कुरान की बहुत सी बातें वेदों के नाम पर स० प्र० में लिखी हुई हैं इसी से समाजी प्रायः उस प्रकार की चाल चलन वाले देखने में आते हैं। स्वामीजी! यह बाइबल की शिक्षा आपही को मुबारिक हो। सनातन वैदिक धर्मी उसको मानने के लिये तयार नहीं हैं। यहां तो अत्रि-भरद्वाज जैसे ऋषियों की पवित्र मर्यादा का ही सर्वदा आदर रहता है।

ग्रन्थकार

॥ श्रीमंगलमूर्तये नमः ॥

प्रथमसमुल्लासाऽऽलोचन

इसमें २२ पृष्ठ हैं, १२ वेदमंत्र हैं, ११ विविध उपनिषदों के टुकड़े हैं, ८ सूत्र और ३ मनुके श्लोक हैं। १२ मंत्रों में चार बे-जोड़ छोटे छोटे टुकड़े भी हैं, अर्थ सबका ही नष्ट भ्रष्ट कर दिया है। देखिये—

प्रथमग्रासे मक्षिकापातः

मित्र शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। उनमें देवता वाचक सूर्यार्थक मित्र शब्द पुंलिंग माना जाता है और सखिवाचक मित्र शब्द नपुंसकलिंग माना गया है। जैसे—

मित्रं पवित्रं वनितां विनीतां
संपत्तिमापत्तिहरीमुदर्कं ।

त्यजेत्स्वतः को गुणवान्समर्थो
वैधोन्तरायो यदि नांतरा स्यात् ॥१॥

इस पद्य में सखि शब्द का पर्याय मित्र शब्द नपुंसकलिंग है। स्वा० द० ने "शन्नोमित्रः" इस मंत्र में आए हुए देवता-वाचक मित्र शब्द को ईश्वरार्थक कहकर नपुंसक माना है। देखिए ६ पृष्ठ में मित्र शब्द का निर्वचन और अर्थ "जो सब से स्नेह करके और सबको प्रीति करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम मित्र है"। इस अर्थ में ईश्वर को सबका सखा मित्र मान कर "शंनोमित्रः" का अर्थ लगाया है, यह व्याकरण-ज्ञान का पहिला नमूना है। वास्तव में इस मन्त्र में मित्र, वरुण, अर्यमन्, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, इन ६ देवताओं से कल्याण की प्रार्थना की गई है। उसको न मान कर मन गढंत अर्थ का जो परिणाम होना चाहिये वही अन्त में हुआ।

ईश्वर के नामों की रजिष्ट्री

ॐ से लेकर शिव तक स्वा० द० ने ईश्वर के १०० नाम लिखे हैं, यह वास्तव में अनेक भिन्न भिन्न देवताओं के हैं, परन्तु अपना मतलब गांठने के लिये नये तौर पर इनका निर्वचन कर करके सर्वसाधारण को वंचित किया गया है। देखिये—

"चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु, केतु, सूर्य" ये नाम संसार में नवग्रहों के प्रसिद्ध हैं। इनके फला-फल पर ही ज्योतिष विद्या का समस्त भार है। इन नामों से यदि ईश्वर का ग्रहण किया जाय तो ज्योतिष नामक एक वेदांग ही व्यर्थ हो जाता है। परन्तु यहाँ क्या है "बूढ़ा मरो या जवान इन्हें हत्या से काम" वेद पर आपत्ति आवे या

वेदांग पर यहाँ तो अपना मतलब गांठना है, इसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पांच नाम प्रकृति के विकार के हैं। स्वा० द० के मत में प्रकृति नित्य है। नित्य प्रकृति के नाम भी नित्य ही होने चाहियें, परन्तु इस बात पर ध्यान न देकर जो मनमें आया लिख मारा और कह दिया कि जो समाजी इन सौ नामों से और उनका जो जो हमने मन माना अर्थ किया है उससे इन्कार करेगा वह "काफ़िर" होगा।

इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, ये नाम दिक्पालों के है। स्वयं "प्राचीदिक्" इत्यादि मंत्रों का अर्थ करते हुए स्वा० द० ने इस बात को लिखा है, परन्तु उस अर्थ का ध्यान न रहने पर यहाँ वही नाम ईश्वर के बता दिये, यही तो खूबी है।

यदि कोई सनातनी हिन्दू "शनैश्चर" का अर्थ ईश्वर-परक करता तब तो उसके खंडन में एक बोतल स्याही खर्च होती परन्तु स्वयं जहाँ पर इसी नाम से ईश्वर को शनैश्चर धीरे धीरे चलने वाला लिख दिया वहां अपने पक्ष की खबर तक नहीं रही। क्या खूब! देवी, शक्ति, श्री, लक्ष्मी, सरस्वती, ये पांच नाम तत्तद्विषय को जो अधिष्ठात्री देवियां हैं उनके हैं। इनमें सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री है, लक्ष्मी धनसंपत्ति की अधिष्ठात्री है, श्री शोभा की अधिष्ठात्री है इन बातों को न जानकर स्वा० द० ने जो मनमाना ऊटपटांग इन नामों का अर्थ गढ़ा है वह विद्वत्ता से कोसों दूर है।

नामों के निर्वचन का नमूना

ईश्वर के अनन्त नामों में [परमात्मा] भी आया है, उस का निर्वचन "परमश्चासौ आत्मा परमात्मा" होता है। स्वा०

द० ने पहिले संस्करण के १० पृष्ठ पर परमात्म शब्द का निर्वचन "परश्चासावात्मा च परमात्मा" इस प्रकार किया है। वर्तमान समय के १३ वें एडीशन में भी इसी प्रकार है। व्याकरण में--पर शब्द का जहाँ आत्मा के साथ सम्बन्ध होगा वहां "परात्मा" ऐसा बनेगा। और परम-शब्द के संबंध में "परमात्मा" बनेगा। इतना भी जिसको व्याकरण का परिज्ञान न हो वह दयानन्द वेदभाष्य बनावे "किमाश्चर्यमतः परम्" ॥

शुद्ध को अशुद्ध बना दिया

पहिले संस्करण के १७ पृष्ठ की अंतिम पंकि में "निराकार" शब्द का "निर्गतः आकारो यस्मात् स निराकारः" यह शुद्ध निर्वचन छपा है, परन्तु इस निर्वचन से ईश्वर में आकार का होना सिद्ध हो जाता है। इसलिये १३ वें एडीशन में १६ पृष्ठ पर "निर्गत आकारात्सनिराकारः" ऐसा निर्वचन बना दिया है, जो कि व्याकरण की रीति से महा अशुद्ध है। "भुक्ते पि लशुने न पुनर्व्याधिशांतिः" अशुद्ध भी लिखा, अर्थ का अनर्थ भी कर दिया परन्तु इतने पर भी मतलब न बना क्योंकि "ईश्वर का आकार से निकलना" इसमें भी सिद्ध है। जिस प्रकार " निष्कौशांबिः । निर्वाराणसिः " इत्यादि में कौशांबी, और वाराणसी का। यह निदर्शनमात्र हमने दयानन्द की पंडिताई का दिया है।

इसी प्रकार "महतांदेवः महादेवः" "मुञ्चति मोचयतीति मुक्तः" इत्यादि सैकड़ों अशुद्धियां इस पहले समुल्लास में विद्यमान हैं। कहां तक कहें, हमारी अनुमति में तो प्रथम समुल्लास का समस्त संस्कृत भाग जो कि दयानन्द ने बना २

कर लिखा है महा अशुद्ध है । भला जिसको "महांश्चासौ देवः" तक की खबर नहीं और ईश्वर को भी जिसने बंध में फँसा माना वह पंडित कैसा ? स्वयंभू शब्द का "स्वयंभवतीतिस्वयंभूः" यह निर्वचन करके भाषा लिखते समय कुछ का कुछ कर दिया । इसको यदि जालसाज़ी न कहें तो और क्या कहें ।

मंगल के बिना मंगल नहीं

मांगलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मंगलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुंक्ते । मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथंते, वीरपुरुषकाणि भवंति, आयुष्मत्पुरुषकाणि च, अध्येतारश्च सिद्धार्था वृद्धियुक्ताः । महाभाष्य, १।१।१

मंगलाचरण की इच्छा से—बड़े भारी शास्त्र समूह की सिद्धि के लिये मुनिवर पाणिनि ने ग्रन्थ के आरंभ में "वृद्धि" शब्द का प्रयोग किया है । क्योंकि जिन शास्त्रोंके आरम्भ में मंगलाचरण किया जाता है वे विस्तृत होते हैं, उनके पढ़ने वाले वीर और चिरजीवी होते हैं । उनका अर्थ सिद्ध होकर वृद्धि को प्राप्त होता है । यह भगवान् भाष्यकार पतंजलि अपने श्रीमुख से कहते हैं ।

मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्च (सांख्य) ५।१

मंगलाचरण करना चाहिये, क्यों (शिष्टाचारात्) पहिले आचार्यों ने किया इसलिये । (फलदर्शनात्) इसके करने से फल भी दृष्टिगोचर होता है (श्रुतितश्च) वेद में भी इसके करने का आदेश मिलता है । इसलिये ग्रन्थ के आरम्भ में

अवश्य मंगल करना चाहिये। यह भगवान् कपिलदेव की आज्ञा है। 'ओं—अथ' ये दो पद भी—

ओमभ्यादाने ८।२।८७

"मंगलानंन्तरारंभप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ"

इन दो प्रमाणों के आधार पर मांगलिक माने जाते हैं। "अभ्यादानं प्रारंभः" प्रारंभ को अभ्यादान कहते हैं। आरम्भ में ओं शब्द का प्रयोग मंगल है। इसलिये वेदों के आरम्भ में ओं का प्रयोग होता है। अथ शब्द का शास्त्रों के आरम्भ में लगना भी मंगलार्थक है। इसलिये

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कंठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ ॥३॥

ऐसा प्राचीन आर्यों ने लिखा है। स्वामी दयानन्द ने वेद भाष्य में स्वयं एक नवीन श्लोक बना कर मंगलाचरण किया है। सत्यार्थप्रकाश में ओं अथ यह दोनों मंगल हैं। गणेश आदि नाम भी ईश्वर के मान कर उनका निर्वचन किया है, जब गणेश नाम ईश्वर का है तब "श्री गणेशायनमः" इसमें क्या दोष है? दोष है केवल दयानन्द की बुद्धि का जो समझ में उनके नहीं आता है।। वेदभाष्यके प्रत्येक अध्यायारंभ में "विश्वानि देव" यह मंत्र स्वामी दयानन्द ने लिखा है, यह मध्य मध्य में मंगल करना उनके (वदतोव्याघात दोष) को सिद्ध करता है। स्वयं मंगल करते हुए औरों के लिये मंगल का निषेधकरना महापाप करना है। संसार में जो जिसका इष्टदेव होता है वह उसी का ग्रन्थारंभ में नमन करता है। यह नियम है। दयानंद ने स० प्र० के १ भाग में जो जो

ईश्वर के १०० नाम लिखे हैं प्रायः वही सनातनी विद्वान मंगल में रखते हैं, और उनमें मंगलका बोधक "नत्वा, नमस्कृत्य, प्रणम्य" इत्यादि पद का प्रयोग होता है। जैसे

यो जीवेषु दधाति सर्वसुकृतज्ञानं गुणैरीश्वर-
स्तं नत्वा क्रियते परोपकृतये सद्यः सुबोधाय च।
ऋग्वेदस्य विधाय वै गुणगुणिज्ञानप्रदातुर्वरं
भाष्यंकाम्यमथो क्रियामययजुर्वेदस्यभाष्यंमया॥

यह पद्य स्वा० द० ने यजुर्वेद भाष्य के आरम्भ में बनाकर धरा है। इसमें "नत्वा" पद नमस्कार का बोधक होने से मंगल सूचक है। हम दयानन्द के हिमायतियों से यहां पर यह पूछना चाहते हैं कि जब ओं और अथ ये दो शब्द विद्यमान थे तब दयानन्द को नवीन श्लोक बनाकर मंगलाचरण करने की क्या ज़रूरत पड़ी ? इतना ही नहीं इस पद्य में जनता को एक बड़ा धोखा दिया गया है। ऋग्वेद का भाष्य अभी बना भी नहीं और "ऋग्वेदस्य विधाय" पहिले ही छाप दिया ता कि जनता पंडिताई के धोखे में पड़ जावे, इस कदर जनता को प्रत्यक्ष में धोखा देना सज्जनता नहीं है।

द्वितीय समुल्लासालोचन

इसमें ९ पृष्ठ हैं। वेद के मंत्र भाग का एक भी मन्त्र नहीं है। १ शतपथ ब्राह्मण का मन्त्र है, २ मनु के पद्य हैं, १ श्लोक चाणक्य नीति का और १ महाभाष्य का है। १ प्रमाण तैत्तिरीय उपनिषद् का है। उनमें मन्त्र भाग के प्रमाणाभाव से और अन्य ग्रन्थों के साक्षिभूत होने से स्वा० द० का मान्य एक भी सिद्धांत नहीं है।

भारत में इंग्लैंड का आदर्श

स्वामी जी लिखते हैं कि "प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है। इसी से स्त्री प्रसव समय में निर्बल हो जाती है। इसलिये प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस औषधि का लेपन करे जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसा करने से दूसरे महीने में स्त्री पुनरपि युवती हो जाती है। स्त्री योनिसंकोचन, शोधन, और पुरुष वीर्य का स्तंभन करे" पृ० २४।

विवरण

इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि में जो लेडियां रहती हैं वे प्रायः बच्चों को दाई से पुलवाती हैं, उनकी देखा देखी यह प्रकरण लिखा गया है। वेद में इस प्रकार का आदेश नहीं है, भारत-यूरोप नहीं है, इस लिये यूरोप का आदर्श भारत में चलाना

महा अनर्थ है। भारत धर्मप्राण देश है, यहां सनातन धर्म के विरुद्ध कोई भी कार्य प्रचलित नहीं हो सकता है। वेद में—

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां
प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ॥
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्
समुद्रियं सदनमाविशस्व १७। ८७
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभू-
र्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि
सरस्वती तमिह धातवे कः १।१६४।४९

ये दो मन्त्र स्तन पान के लिये विनियुक्त हैं। जातकर्म संस्कार में इन दो मंत्रों से क्रमशः वाम और दक्षिण स्तन के पीने का आदेश है। माता के दूध से बालक बलिष्ठ और पुष्ट होता है इसीलिये "विश्वा वीर्याणि पुष्यसि" मन्त्र में आया है। लोकमें माता के दूध पीने का शपथ आज कल भी दिया जाता है। यह प्रथा अति प्राचीन सनातन है। विषय को अधिक इच्छा से स्वा० द० ने यह आदेश समाजियों को दिया है। परन्तु इस हिसाब से "दशास्यां पुत्रानाधेहि" न रहेगा। क्योंकि दूसरे मास में युवती होने के कारण कम से कम २० संतान होंगे।

मालूम होता है कि स्वा० द० को काम-शास्त्र का भी अभ्यास था,—इसीलिये "योनि संकोचन" का आदेश कर

दिया, परन्तु वैद्यक शास्त्र नहीं आता था—यदि आता तो नुसखे का नाम और दवाइयां भी लिख देते। अब मामला बहुत मुशकिल हो गया, बेचारे समाजी बध्या होते ही दुकान दुकान भटकते फिरेंगे—और कहेंगे कि भाई ! दयानन्द के आज्ञानुसार स्तन पर लगाने की—और योनिसंकोचन की कोई दवाई बनाओ। नहीं तो हम काफिर हो जावेंगे। योनि-शोधन का मसाला भी स्वा० द० लिखना भूल गए। नहीं तो आज सब वेश्याओं को शुद्ध कर २ के समाजी उनसे दयानन्द, विरजानंद, लेखराम, गुरुदत्त जैसी अनेक सतान पैदा करते। यह वृत्तांत "पार्टगिगुत्र" से उद्धृत किया गया है।

दश दिन का सूतक

सात पीढ़ी तक का धर्म शास्त्र में सूतक माना जाता है, उस में पिता, पितामह, नाना, मामा आदि सभी गण्य मान्य पुरुषों का परिगणन होता है। "शुध्येद्विप्रो दशाहेन" इस मन्त्र के प्रमाण से ब्राह्मणादि चार वर्णों का क्रमशः १०।१२।१५।३० दिन में सूतक घटता है, "दशाह शावमाशौचम्" शवस्येदंशावम्।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ५।६०

मनु के इस प्रमाण से सातवें पुरुष में सपिंडता गोत्रता और नाम तथा जन्म के न रहने पर "तर्पण श्राद्ध" बन्द हो जाता है। द्विजों का विद्याजन्म में पिता गुरु कहाता है, उसी का स० प्र० के २५ पृष्ठ में "दशरात्रेण शुध्यति" इस प्रमाण से स्वा० द० ने आशौच माना है। परन्तु संस्कार विधि में

"भस्मान्तं शरीरम्" लिख कर अन्य किसी प्रकार का कोई कर्तव्य नहीं लिखा है, फिर यह दश दिन तक का सूतक कैसा ? यह दोनों ग्रंथों का परस्पर विरोध सर्वथा अनिवार्य है।

भूततंत्रम्

स्वामीजी लिखते हैं कि "जब उस शरीर का दाह हो चुका तब उसका नाम भूत होता है...ऐसा ब्रह्मा से लेकर आज पर्यंत के विद्वानों का सिद्धान्त है" पृ० ८५ । इसमें किसी ग्रन्थ के प्रमाण न होने से—यह बात सर्वथा असत्य है। यदि प्रमाण है तो दिया क्यों नहीं ? कौन से वेद मन्त्र में दग्ध प्राणी को भूत कहा है ! केवल मूर्ख जनता को धोखा देने के लिये यह चाल की गई है । योनि विशेष का नाम भूत है "भूतोऽमी देवयोनयः" (अमर) इस में आने पर मनुष्य को अणिमादि सिद्धियां हो जाती हैं। भूत विद्या का नाम ही भूततंत्र है। छांदोग्य में उसका वर्णन है । चरक में उसका उपचार है। संस्कार विधि में जातकर्म के अंदर "शंडामर्क" इत्यादि दो मन्त्रों से दस दिन तक प्रसूता के घर में सरसों भात मिलाकर हवन करना इसी भूत बाधा को दूर करने के लिये स्वा० द० ने लिखा है। इनकी एड़ी अगाड़ी को, पैर पिछाड़ी को होते हैं ऐसा "येपांपश्चात्प्रपदानि" इस मंत्र में लिखा है । इनका विस्तृत वर्णन हमने "अथर्ववेदालोचन" में किया है। पाठक वहीं देखें ।

देवताओं का पागमपन

२६ पृष्ठ में—"जो कोई बुद्धिमान उनकी भेंट पाँच जूता, डंडा, वा चपेटा, लातें, मारें तो उसके हनुमान देवी और

भैरव रुद्र प्रसन्न होकर भाग जाते हैं" दयानन्द का यह लेख है। हिंदुओं, दयानन्द हनुमान देवी, भैरव इन प्रसिद्ध तीन देवतों को कैसी २ बुरी २ गालियां देरहा है ? देखते हो ? तुम अपने २ इष्ट देव का अपमान मत सुनो ! अन्यथा अनर्थ हो जायगा।

बाबूदल मारागया

स्वामीजी लिखते हैं कि "नवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपनी २ संतानों का उपनयन करके आचार्यकुलमें...भेज दें। और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिए गुरु कुल में भेज दें" पृष्ठ २६। इस लेख में "शूद्रादि वर्ण" लिखना स्वा० द० की मूर्खता है—क्योंकि शूद्र के बाद कोई वर्ण नहीं है। वर्ण केवल चार ही हैं। इस लेख के आगे पीछे किसी ग्रन्थ का प्रमाण नहीं है, इस लिए यह लेख उनका "निजीमत" है।

द्विजों के लिए "आचार्य कुल" और शूद्रों के लिए "गुरुकुल" यह विभाग बहुत बढ़िया है। इस लिए "गुरुकुल कांगड़ी और गुरुकुल वृन्दावन" ये दोनों शूद्रों के लिए ही समझे जायेंगे। नहीं तो दयानन्द का लेख धूल में मिल जायगा। गुरु और आचार्य का मनुस्मृति में अलग २ लक्षण किया है। देखिये।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।२।१४०
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

लक्षणों के अलग २ होने से दोनों को एक मानना बड़ी मूर्खता है। अब प्रश्न उठता है कि शूद्र गुरुकुल में जाकर किस विद्या को सीखे ? इसका उत्तर स्वा० द० ने अगाड़ी जाकर स्वयं दिया है। देखिये, "ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार-विद्या, और शूद्रा को पाकादि "सेवा की विद्या" अवश्य पढ़नी चाहिए" पृ० ७५। इसमें केवल लिंग भेद है, बाकी सब बराबर है। ब्राह्मणी के स्थान में ब्राह्मण पढ़ना चाहिए। व्यंजन-शास्त्र, पाकशास्त्र जानने वाला भी मूर्ख नहीं कहा जा सकता है। इस लेख के होते हुए जो बाबू लोग शूद्रों को उपवीत दे देकर "गुरुकुलों में" संस्कृत पढ़ा रहे हैं उनको देखकर-भूत-दयानन्द का आत्मा बड़ा कष्ट पा रहा होगा, उसको येन केन प्रकारेण शान्त करना चाहिए। यदि वह कहीं चिढ़ गया तो "सरसों भातका" घर २ होम होने लगेगा।

तृतीयसमुल्लासालोचन

इसमें ४५ पृष्ठ हैं। वेद के ४ मन्त्र पूरे और बाकी दो आधे हैं। १ निरुक्त का मन्त्र है। १ ब्राह्मण ग्रन्थ का मन्त्र है. ३० मनु के श्लोक हैं। ५९ दर्शनों के सूत्र हैं। ८ उपनिषदों के उद्धरण हैं। ३ सुश्रुत के और १ महाभाष्य का प्रमाण है। ४ मन्त्र गृह्य सूत्रों के और १ श्लोक फुटकर है।

इसमें वेदप्रतिपादित मन्त्रार्थ के असम्बन्ध से और साक्ष्य-कोटि में आये हुए ग्रन्थों के प्रमाणाधिक्य से—दयानन्द के विज्ञापनानुकूल उनका कोई सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है, अब जिन बातों का आलोचन करना है वे निम्नलिखित हैं।

"आठ वर्ष के पुत्र और कन्याओं को पाठशाला में पढ़ने के लिए आचार्य के पास भेज देवे। अथवा पाँचवें वर्ष में भेज देवे। घर में कभी न रक्खे। परन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इनके बालकों का यज्ञोपवीत घर में होना चाहिए। पिता यथा-वत् यज्ञोपवीत करे। पिता ही उनको गायत्रीमन्त्र का उपदेश करे"। प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६।

विवरण

प्रथम संस्करण के इस पाठ को १३ वें संस्करण में इस प्रकार बदला है। "द्विज अपने अपने घरों में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके

आचार्यकुल अर्थात् अपनी २ पाठशाला में भेज दे" पृ० ३२। जहाँ पर बैठकर लड़के पढ़ाये जाते हैं उस स्थल का नाम पाठशाला होता है। आचार्य, उपाध्याय, गुरु उसमें पढ़ाते हैं। इस अच्छे अर्थ के बदल कर आचार्य कुल का अर्थ पाठशाला कर दिया है और "कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार कर के" यह सन्देह में गेरने वाली इबारत और चढ़ा दी है, । "न इधर न उधर ये बलाय किधर" यथायोग्य पद यहाँ पर सब को सन्देह में गेरता है। यदि कन्याओं का उपवीत अभीष्ट था तब साफ लिखना चाहिए था। नहीं तो साफ २ इनकार करना था। "विल्हणो वृपणायते" वाला मामला बनाकर समाजियों को "न घर का रक्खा न घाट का" आज कल गुरुकुलों में जाति के अम्बष्ठ आचार्य बनकर द्विजों के लड़कों को उपवीत देते हैं। और गायत्री मन्त्र का उपदेश करते हैं। यह सब स्वा० द० के उपर्युक्त लेख से विरुद्ध नहीं तो और क्या है?

अर्थ बदल दिया

कन्यानांसंप्रदानंच कुमाराणांचरक्षणम् ३।३३

मनु के (७।१५२) इस पद्य का पहिले तो पूर्वार्ध ही गायब कर दिया। और उस पर भी अर्थ कुछ का कुछ कर दिया। ये दो अपराध दयानन्द ने एक साथ किये हैं। प्रसंगागत इस श्लोक का अर्थ यह है कि "राजा अपनी कन्याओं को जिस घर में दे उस घर का और अपने राजकुमारों का सब प्रबन्ध—प्रातःकालवर्जित समय में विचारे" मनुष्य मात्र के लड़कों का प्रबन्ध करना इस पद्य का अर्थ नहीं है। इस पद्य की भाषा में पद्य गत पदों के विरुद्ध एक बात स्वा० द० ने बड़ी विचित्र लिखी है कि "प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो

और दूसरा पाठशाला में" द्विजके एक लड़के का दो बार यज्ञोपवीत होना न किसी वेद मंत्र में लिखा है और न किसी धर्म ग्रन्थ में, इस लिये यह बात कपोलकल्पित होने से अप्रमाण है।

विचित्र संध्या

वेद की आज्ञा का पालन द्विजों में किसी निमित्त से नहीं किन्तु धर्म मान कर किया जाता है, इसीलिये वेद पर तर्क उठाने वाले को नास्तिक कहा गया है। वेदाविरुद्ध तर्क वेद की रक्षा के लिये पूर्वाचार्यों ने माना है। परन्तु वेदविरुद्ध नहीं, स्वा० द० ने सभी बातें तर्काश्रित कर दीं। यही मन्दता का काम किया है। "नैषा तर्केण मतिरापनेया इति श्रुतिः॥ तर्काप्रतिष्ठानादिति शास्त्रम्"। संध्या में आचमन कफनिवृत्ति के लिये, मार्जन आलस्य हटाने के लिये ३८ पृष्ठ में लिखा है। यह किस वेद मंत्र के आधार पर है" समाजी इस का उत्तर दें।

पात्रों का ड्राइंग

स्वा द० ने ३७ पृष्ठ में यज्ञपात्रों का आकार यज्ञ प्रक्रिया के विरुद्ध बना कर अपनी पंडिताई का परिचय दिया है। कुंड, प्रोक्षणीपात्र, प्रणीतापात्र, आज्यस्थाली, चमस, इनका जो आकार है वह किस वेद मंत्र के अनुकूल है? वेदविरुद्ध मानना विज्ञापन के विरुद्ध है। यदि गृह्यादि ग्रन्थों के आधार पर इनको लिखा है तो उनकी आज्ञा के विरुद्ध इनका आकार क्यों बनाया? इन बातों का उत्तर समाजियों के पास कुछ नहीं है।

शूद्रोपनयननिषेध

शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके ॥ सुश्रुत सूत्र० २

"जो कुलीन शुभलक्षण युक्त शूद्र हो तो उसको "मंत्र संहिता" छोड़कर (स्वशास्त्र) पढ़ावे (शूद्र पढ़े) परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है" । पृ० ३९ । इसमें कोष्ठबद्ध अर्थ किसी मूल के पद का नहीं है । केवल मन गढ़न्त है । स्वा०द० के मत में "पाकादि सेवा की विद्या" शूद्र के लिये नियत है जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं · आज कल समाजी शूद्रों का ही नहीं, चमार डोम, कसाई, भंगी का भी स्वा० द० की आज्ञा के विरुद्ध यज्ञोपवीत करते हैं । और १।१ पैसे की छपी हुई संध्या उनके हाथों में दे देते हैं ताकि वह मनुष्ययोनि के भी अधिकारी न रह कर तिर्यक् योनि को प्राप्त हो जावें । यह अनधिकार चेष्टा क्षन्तव्य नहीं है ।

उपनिषदों का भी नाश किया

पृ० ४० में "पुरुषोवावयज्ञः" यह पाठ छांदोग्य के ३ प्रपाठक का देखकर उसका भी मन माना अर्थ गढ़ा है । उसका असली अर्थ तब लगता है जब—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः ॥ स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति ॥ स ह षोड़श वर्षशतमजीवत् ॥ प्रह षोड़श वर्षशतं जीवति यएवं वेद ७।१६

इस पाठ पर ध्यान दिया जावे। इस खंड में ऐतरेय ब्राह्मण के संपादक का इतिहास है। उसने आपत्ति आने पर रुद्र ११ वसु ८ आदित्य १२ इन देवताओं का उपासना करके प्राणों को बलिष्ठ कर ११६ वर्ष जीने की इन देवताओं से प्रार्थना की तब उसको ११६ वर्ष की आयु प्राप्त हुई यह इतिहास है। इसका शंकर भाष्य विद्वानों को अवश्य देखना चाहिये।

एक पद का अर्थ बदला

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः २।२८

पृ०.४५ में छपे हुए इस पद्य का पदानुकूल अर्थ यह है। स्वाध्यायसे व्रतों से होमोंसे, त्रैविद्यव्रतसे, इज्यासे, पुत्रोंसे, महायज्ञोंसे, यज्ञोंसे इस "तनु" को "ब्राह्मी" ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। यह पद्य पृ० ८५ में भी स्वा० द० ने उद्धृत किया है। अर्थ दोनों जगह बदला है। अर्थ बदलने वाला पद "ब्राह्मी" है। स्वा० द० ने इसका अर्थ "ब्राह्मण का" किया है, ब्रह्मन् पद का अर्थ "ब्राह्मण" करना महाअनर्थ करना है। यदि यह अर्थ मनु को अभिप्रेत होता हो "ब्राह्मणी क्रियते तनुः" ऐसा पाठ बनाते परन्तु वह इस अर्थ को यहां पर उपयुक्त नहीं मानते थे, इसीलिये ऐसा नहीं किया।

अभिवादनशब्द

पृ० ४६ में "अभिवादन शीलस्य" २।१२१ इस मनु के छपे हुए पद्य में–"सव्येनसव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः" इस मनुप्रोक्तनियम से शिष्यको गुरु के प्रति अभिवादन

करने का फलादेश है। नमस्ते करने का फलादेश किसी आर्ष ग्रन्थ में नहीं है, इसी लिये अमान्य है।

पुराण शब्द पर विचार

ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि
कल्पान्गाथा नराशंसीरिति ॥ ३।७१

इसका व्यख्यान करते हुए स्वा०द० ने पृ० ७२ में लिखा है कि "जो ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण लिख आये उन्हीं के इतिहास,पुराण,कल्प,गाथा और नाराशंसी पाँच नाम है। श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं" ॥ यही वचन पृ० ३४७ में भी दिया है, अर्थ दोनोंवार एक ही सा है।

समीक्षा

ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्यान रूप हैं, ऐसा स्वा० द० ने पृ० ७१ में लिखा है। शतपथ, याज्ञवल्क्य ने, गोपथ, वसिष्ठ ने, ऐतरेय, महिदास ने लिखा है, यह बात इतिहासवेत्ताओं से छिपी नहीं है। यदि इनको पुराण माना जावे तो वेद से पूर्व इनका अस्तित्व असंभव है। हमारे मतमें ब्राह्मण को वेद से भिन्न नहीं माना जाता है। जिस प्रकार "अष्टाध्यायी और महाभाष्य" दोनों मिलकर एक व्याकरण कहे जाते हैं उसी प्रकार "मन्त्र ब्राह्मण" दोनों मिलकर एक वेद माना जाता है। पुराण इन दोनों से भिन्न है, और वैदिक है। वेदप्रतिपादित सूक्ष्म विषयों का ही उसमें विस्तृतरूप से प्रतिपादन किया गया है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थों को ही पुराण माना जावे तो,

ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः
११।७।२४

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् १५।६।१०

तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नारा-
शंसीश्चानुव्यचलन् १५।६।११

अथर्व वेद के इन मन्त्रों में ब्राह्मणों से पूर्व किस पुराण, इतिहास, गाथा, और नाराशंसी का प्रतिपादन मिलता है, इसका उत्तर समाजी दें? इतना ही नहीं गोपथ ब्राह्मण में इससे भी स्पष्ट।

स दिशो न्वैक्षत, प्राचीन्दक्षिणांप्रतीचीमुदीचीं ध्रुवामूर्ध्वामिति ॥ ताभ्यः पंचवेदान्निरमिमत सर्पवेदं पिशाच-वेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति ॥

इस प्रकार आख्यान मिलता है। इतिहास और पुराण इन दोनों के साथ में "वेद" शब्द का प्रयोग वैदिक इतिहास और वैदिक पुराण को प्रसिद्ध करता है। इसीलिये फिर भी गोपथ में

एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः स ब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः

सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः

इस प्रकार पाठ मिलता है। इसमें ब्राह्मण इतिहास, पुराण-कल्प, अन्वाख्यान (गाथा) इन सब का वेद के साथ २ आविर्भाव माना है। इस लिए इस विषय में स्वा० द० का कथन केवल उन्मत्त के समान है।

पुराण का लक्षण

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥१॥

जिसमें सर्ग प्रतिसर्ग वंश, मन्वन्तर, और वंशानुचरित, इन पाँच विषयों का विशेषरूप से प्रतिपादन हो उसको पुराण कहते हैं। यास्क ने निरुक्त में पुराण शब्द का निर्वचन लिखते हुए कहा कि "पुराणंकस्मात् ? पुरानवंभवति" जो पहिले नया था। इस लिए पुराना हुआ। इसी प्रकार इतिहास शब्द का भी निरुक्त में "इति ह आस" ऐसा निर्वचन किया है।

रामायण में पुराण की सूचना

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां यत्पुरावृत्तं पुराणेषु मया श्रुतम् ॥१॥

यह पद्य वाल्मीकि रामायण के बाल कांड का है। इसका भावानुवाद यह है कि "राजा की बात सुन कर रथ का हाँकने वाला सूत बोला कि हे राजन्! मैंने जो इतिवृत्त पुराणों में

सुना है उसको सुनिये" यह वृत्तांत ऋष्यश्रृंग के द्वारा यज्ञ करने पर पुत्रप्राप्ति स्वरूप था। इससे स्पष्ट है कि रामचन्द्र के जन्म से पहिले भी पुराणों का अस्तित्व था।

मनुस्मृति में पुराण की सूचना

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च ३।२३२

मनु के इस पद्य में पुराण, इतिहास, आख्यान इन तीनों का सृष्टि के आरम्भकाल में होना सिद्ध है। मनुस्मृति की प्राचीनता में पृ० २८६ स्वा० द० का लेख इस प्रकार है कि "यह मनुस्मृति जो सृष्टि के आदि में हुई है उसका प्रमाण है" इस लेख से मनु सृष्टि के आदि समय की है उसमें भी पुराणों का महत्व है। इस लिए जो पुराणों को नवीन मान कर उन पर विवाद करते हैं वे मूर्ख नहीं तो और क्या हैं?

डबल चेलेंज

जो गवर्गंड समाजी लाल बुझक्कड़ दयानन्द के भरोसे पर रह कर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं वह किनी टेबुल पर भूत दयानन्द को बुला कर पूछें कि "स्त्री शूद्रौनाधीयाताम्" यह किस श्रुति का मन्त्र उन्होंने स० प्र० में उद्धृत किया है? जिसको सनातनी मानते हैं, यदि किसी वेद में इसका पता स्वामी जी न दें तो समाज को तिलतंडुल मिश्रित जल देकर एक दम छोड़ दें, नहीं तो इसका पता बता दें? अन्यथा छुटकारा न होगा।

अब तुम कुआ में पड़ो

पृ० ७४ में स्वा० द० ने सनातनियों को ऊपर लिखी यह गाली देकर कहा कि वेद पढ़ने का अधिकार मनुष्य मात्र को है। परन्तु अब हम वेद मन्त्र से इस बात को सिद्ध करते हैं कि वेद पढ़ने का अधिकार मनुष्य मात्र को नहीं किन्तु केवल द्विज मात्र अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को है। देखिए—

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयंतां पावमानी द्विजानाम्
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं
ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजतु ब्रह्मलोकम् १९।७१।१

यह मंत्र अथर्व वेद का है। अथर्व वेद "अथर्वांगिरसो मुखम्" इस वेद प्रमाण से चारों वेदों में प्रधान है। और उसकी इस विषय में यह संमति है (मंत्रार्थ इस प्रकार है) मैंने वर देने वाली वेद माता गायत्री स्तुत की है वह हमको (शुभकार्य में) प्रेरित करें (वह कैसी है) "द्विजानां पावमानी" ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन द्विजों को पवित्र करने वाली है, वह आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ब्रह्मतेज, मुझको देकर ब्रह्मलोक को चली जावे यह मन्त्रार्थ है। इसमें गायत्री का अधिकार केवल द्विजमात्र के लिए नियत है शूद्र उसका अधिकारी नहीं है। जब शूद्र को गायत्री का ही अधिकार नहीं तब समस्त वेद पढ़ने का अधिकार उसको कहाँ से मिलेगा। मालूम होता है कि स्वा० द० ने इस मन्त्र को देखा नहीं या जान बूझकर इसको दबाया है। अब जिस मन्त्र के

आधार पर मनुष्य मात्र को वेद पढ़ने का अधिकार स्वा० द०
ने लिखा है उसका भी हाल देखिए।

**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्म-
राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे
कामः समृध्यतामुपमादो नमतु २६।२**

यह मंत्र यजुर्वेद का है। स० प्र० के ७४ पृष्ठ पर जो मंत्र
छपा है वह आधा है, और उसमें भी (च) चुराया है, अब
हम इस मंत्र का अन्वय लिखते हैं।

हे जनाः! जनेभ्यः अहंराजा ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय अर्या-
य स्वाय अरणाय च यथा इमां कल्याणीं वाच आवदानि,
देवानां दक्षिणायै दातुः यथा च प्रियोभूयासं यथा च अयंमे
कामः समृध्यतां यथा च उप, मा, अदः, नमतु, तथा मद्राज्य-
स्थिता भवंतः कुर्वन्तु। यथेत्यस्य तथेत्यनेन संबंधः अन्येषाम-
पेक्षितपदानामध्याहारः। जनेषु इभ्यः पूज्यः जनेभ्यः।
जनवंदनीयो राजेति भावः। इभ्य आढ्याधनी स्वामीत्यमरः।

इस मंत्र में राजा अपनी प्रजा के समस्त जाति जनों को
एकत्र करके कहता है कि हे मनुष्यो! जिस प्रकार मैं राजा
ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र वैश्य अरण इन सब के प्रति इनके कल्याण
करने वाली वाणी का उपदेश कर सकूं और जिस प्रकार
देवताओं पर दक्षिणा चढ़ानेवालों के लिये मैं प्यारा बनूं और
जिस प्रकार यह मेरी कामना पूर्ण हो और जिस प्रकार परोक्ष
सुख मुझको प्राप्त हो उस प्रकार तुम काम करो। यह मंत्रार्थ
है। इस मंत्र में वेद शब्द तक नहीं है। और न किसी ऋगादि

वेद का नाम है। इसलिये स्वा० द० का किया अर्थ असंगत है। स्वा० द० ने इस मंत्र को राजा की ओर से न लगा कर ईश्वर की ओर से लगाया है। इसीलिये मंत्रार्थ में गड़बड़ कर दिया है। अब हम ईश्वर की ओर से किये हुए उनके मंत्रार्थ पर विचार करते हैं।

पहले तो स्वा० द० के मत में ईश्वर निराकार है वह बोला कैसे? यदि बोला तो निराकार कैसा (१) जब ऋग्वेद बन गया और आधा यजुर्वेद तब उसको अधिकारि वर्ग की चिन्ता हुई यह भूल कैसी (२) ईश्वर का "मैं प्यारा बनूं" यह कहना किससे? और क्यों? (३) "यह मेरी कामना पूर्ण हो" यह बात पूर्णकाम ईश्वर कह सकता है या नहीं? (४) "मुझको परोक्ष अदृष्ट फल प्राप्त हो" यह सर्वदर्शी सर्वत्र विद्यमान ईश्वर कैसे कहेगा? यदि कहेगा तो सर्वदर्शी रहा या नहीं? (५) इत्यादि असंभव बातें ईश्वर पर ..गानेके लिये स्वा० द० ने ऊटपटांग जो समझ में आया लिख दिया, वास्तव में स्वा० द० का किया मंत्रार्थ महानिरर्गल और अशुद्ध है।

अपशूद्राधिकरण

व्यासप्रणीत वेदांत दर्शन में एक "अपशूद्राधिकरण" है। उसमें शूद्र को वेद के सुनने और पढ़ने का अधिकार नहीं है यह स्थिर किया गया है। देखिये—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च

सूत्र का अर्थ यह है कि "शूद्र को वेद का श्रवण और अध्ययन इन दोनों का प्रतिषेध है और स्मृति भी इसी बात का समर्थन करती है"। (१।३।३८) स्मृति का पाठ इस प्रकार है "अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरण·

मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" १२।१ यह गोतम स्मृतिका सूत्र है, यह वही गोतम है जिनका बनाया न्याय-दर्शन संसार में प्रसिद्ध है। दर्शनकार दो ऋषियों की इस विषय में यह सम्मति हमने यहां पर दी है, अब तीसरे ऋषि कि सम्मति और लीजिए—

अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत

जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन में एक "शूद्रानधिकारा-धिकरण" है उसका यह सूत्र है। सूत्र का अर्थ यह है कि "वेद की आज्ञा से यज्ञ करने का अधिकार शूद्र को छोड़ कर केवल द्विजों के लिये ही नियत है" (६।१।३३) उसमें भी यज्ञ करने का अधिकार द्विजमात्र को है। परन्तु यजमान के यहां जाकर कराने का अधिकार" "ब्राह्मणानांवा, इतरयोरा-र्त्विज्याभावात्" ६।६।१८ इस सूत्र के प्रमाण से केवल ब्राह्मण का ही है। क्षत्रिय वैश्य का नहीं। इसका अधिक विवेचन हम ने "वैदिकवर्णव्यवस्था" में, किया है। पाठक वहीं देखे। इस दुरुह और दुर्विगाह विषय को दयानंद ने न समझ कर जो प्रलाप किया है वह वेदशास्त्र विरुद्ध है।

ऐतिहासिक विवरण

रामचन्द्र का राज्य धार्मिक शासन के लिये संसार में अति प्रसिद्ध है, उनके राज्य में वेद विरुद्ध पापाचरण नहीं होता था। इसलिये उनके समय को "रामराज्य" कहकर अभी तक प्रजा याद करती है। उनके राज्य में एक समय ऐसा हुआ कि एक ब्राह्मण का पुत्र मरा। ब्राह्मण ने उसको लेकर अयोध्यामें राजमहलके सामने रखते हुए कहा कि "न पुत्रमरणं केचिद्रक्षंति पुरुषाः क्वचित्" यह प्रतिज्ञा आज नष्ट हुई। मेरे

रहते हुए मेरा पुत्र मर गया, इसका क्या कारण है? द्वारपालों के द्वारा इस बात की सूचना पाते ही श्री १०८ भगवान् रामचंद्र जी बाहिर पधारे। पहिले उन्होंने पुत्र के पिता की जाँच की। तदनंतर उसकी माता का भी सतीत्व परीक्षित किया जब दोनोंने शपथ खाकर अपने निष्पाप होने का प्रमाण दिया, तब भगवान् ने पुष्पक विमान याद किया। याद करते ही वह आया। उस पर बैठकर भगवान् ने इधर उधर देखकर एक शंबूक नामक शूद्र को अनधिकार चेष्टा करते हुए तप में प्रवृत्त देखा। जाँच करने पर तलवार से उसकी गरन उतार दी। इधर ब्राह्मण का बालक भी जी उठा। यह आख्यान वाल्मीकिरामायण के उत्तरकांड में लिखा है।

इसी बात का उल्लेख करते हुए महाकवि भवभूति ने भी उत्तररामचरित में एक पद्य लिखा है—जो उपयुक्त होने के कारण नीचे दिया जाता है—देखिये—

> रेहस्तदक्षिणमृतस्यशिशोर्द्विजस्य
>
> जीवातवेविसृजशूद्रमुनौकृपाणम्।
>
> रामस्य गात्रमसिनिर्भरगर्भखिन्न-
>
> सीताप्रवासनपटोः करुणाकुतस्ते ॥ १ ॥

इस पद्य का भी अर्थ अति स्पष्ट है इसलिये उसका लिखना व्यर्थ है। जब एक शूद्र के पाप से रामचन्द्र के धार्मिक राज्य में विप्लव मच गया तब हमारे राजराजेश्वर जार्ज महाप्रभु के राज्य में विप्लव क्यों न मचे? जहां पर प्रति दिन आर्यसमाजी शूद्रोंको यज्ञोपवीत दे दे कर उनको वेद मन्त्र पढ़ाते हैं, उनको पाप में प्रवृत्त कराते हैं, उनसे अनधिकार

चेष्टा कराते हैं। हमारी अनुमतिमें तो हमारे राजाको जितना कष्ट समय २ पर भोगना पड़ता है वह सब समाजियों के द्वारा संसार में प्रवृत्त हुए पाप का ही परिणामहै।

हम स्त्री-शिक्षा के विरोधी नहीं हैं.

जो लोग सनातन धर्म को स्त्री शिक्षा का विरोधी समझते हैं वे मूर्ख हैं। सनातन धर्म उस स्त्री शिक्षा का प्रचारक है जिससे स्त्रियां पतिव्रता, धर्मपरायणा, गृह कार्य दक्षा बनी रहें। स्त्रियों को लेडी बनाकर, नाविल पढ़ाकर, बाजारों में घुमाना, सनातनधर्म को अभीष्ट नहीं है। और नहीं प्रत्येक को ११।११ खसम कराना अभीष्ट है। सनातनधर्म में अनुसूया, सीता, सावित्री, आदि का आदर्श स्त्रियों के लिये पर्याप्त है।

चतुर्थसमुल्लासाऽऽलोचन

इसमें ४८ पृष्ठ हैं। ११ मन्त्र पूरे और एक मन्त्र आधा है। मनुस्मृति के ७६ श्लोक पूरे और एक आधा है। २ प्रमाण शतपथ के हैं। ३ प्रमाण निरुक्त के हैं। १ प्रमाण षड्विंश ब्राह्मण का है। २ सूत्र आपस्तंब के हैं। ५ श्लोक पराशरस्मृति के हैं। २ श्लोक दयानन्द के स्वयं रचे हैं। २ श्लोक भगवद्गीता के हैं। १३ पद्य महाभारत के हैं। देवतर्पण-ऋषितर्पण-पितृतर्पण-वैश्वदेव-दिग्भाग इनके मन्त्र मनुस्मृति आदि आर्ष ग्रन्थों के अलग हैं कुल मसाला इतना है। इसमें निम्नलिखित बातें आलोचनीय हैं।

विवाह में कुल-विचार

दयानन्द ने जहाँ पर विवाह के लिए कन्या का वर्णन किया है वहाँ "सवर्णां लक्षणान्विताम्" ।३।४ कहा है। द्विजातिगण अपने २ वर्ण में सुन्दर लक्षणवाली कन्या से विवाह करें, यह मनु की आज्ञा है।७७। आर्यसमाज में आजकल यवन ब्राह्मणी से, चमार राजपूतनियों से, भंगी वैश्याओं से विवाह करते दिखाई देते हैं। कहिए अब क्या बाकी रहा है।

वर्जनीय कुल

सन्तान में रजवीर्य का असर होता है। क्योंकि बालक का मांसपिंड इन दो चीजों के संयोग से ही होता है। रजवीर्य

में माता पिता के वासनात्मक संस्कार रहते हैं। इस लिए जहाँ तक हो सके माता की ६ पीढ़ी और पिता का गोत्र बचा कर विवाह करना चाहिए। और उसमें भी कर्महीन, पुरुष हीन, वेदशून्य, लोमश, अर्श, क्षय, दमा, मृगी, सफेद कोढ़, और गलितकुष्ठ—यह दस रोग जिन कुलों में हों वह अवश्य छोड़ दे। अन्यथा कुल का नाश हो जाता है।

विवाहवयोविचार

८२ पृष्ठ में टिप्पणी देते हुए दयानन्द कन्या की विवाहावस्था बताने चले हैं। ४२ पृष्ठ में भी आपने इस बात का विचार उठाया है, परन्तु उस समय आपकी अकल न जाने कहाँ चली गई जो विवाह का विचार छोड़कर आप लगे गर्भाधान के गीत गाने ! क्या खूब !

अथास्मै पंच विंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीं पत्नीमावहेत् ५३ सु. शरीर. अ. १०

सुश्रुत के इस वचन में २५ वर्ष वाले लड़के के लिये १२ वर्ष की कन्या का विवाह मिलता है दयानन्द ने जो प्रमाण दिया है वह गर्भाधान का है, विवाह का नहीं। मनुस्मृति के ९।९४ पद्य में ३० वर्ष की अवस्था वाले को १२ वर्ष की कन्या और २४ वर्ष वाले को ८ वर्ष की कन्या का विधान मिलता है। वेद में उस का विरोध नहीं है। यदि हो तो दयानन्दी बतावें ? दयानन्द का प्रमाण विरुद्ध यह गीत हिन्दू गाने को तयार नहीं हैं।

मासिक-धर्म-कार्यालय

रजोदर्शन सन्तान के होने का उपलक्षण मानकर सनातन धर्म में रजस्वला होने से कुछ समय पूर्व कन्या के विवाह का

आदेश मिलता है। जिससे रजोवतीकन्या ऋतुस्नाता होकर केवल अपने पति का मुख देख सके, देश काल व्यवस्था के ऊपर ध्यान देकर हमारे पूर्वज आचार्योंने इस विषयकी भली भाँति मीमांसा करली है। बंगाल-बिहार-उड़ीसा-मद्रास यह देश प्रायः उष्ण प्रधान हैं। इनमें १०।११ वर्षकी कन्या रजोवती हो जाती है। पंजाब-सिंध-बिलोचिस्तान-पर्वत प्रदेश युक्तप्रांत यह देश प्रायः शीत प्रधान है। इनमें शीत की अधिकता से १४।१५ वर्ष तक कन्या ऋतुमती होती है। सनातन धर्म सबके निर्वाहार्थ देशकालानुकूल रजोदर्शन से पूर्व ही विवाह का विधान अच्छा मानता है। पर स्वा०द० को यह बात पसंद नहीं है। लावारिस, यतीम, अनाथ कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष पर्यंत अपने जातीय बांधवों की प्रतीक्षा करके अन्त में अपनी जातिमें विवाह करे। इस आपद्धर्मको स्वा०द० ने धर्ममानकर ८२ पृष्ठ में इस बात का सब के लिये आदेश किया है। इस लिये हम आर्यसमाजियों से एक बात पूछना चाहते हैं। क्या परोपकारिणी में या प्रतिनिधि सभा में कोई ऐसा कार्यालय है? जिसमें इस विषय का पत्र व्यवहार होता हो। यदि है तो उसका पता और रजिष्टर हम भी देखना चाहते हैं। समाजी शीघ्र उत्तर दें?

वर्णव्यवस्था

"वर्णव्यवस्था गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये" पृ० ८५। इस विषय में स्वा०द० का यह पहिला लेख है। इसके विरुद्ध इसी ग्रन्थ में अन्य भी लेख हैं जिनका हम यथा स्थान विवरण करेंगे। स्वभाव से यहां अभिप्राय जन्म से है। इस लिए आर्योद्देश्यरत्नमाला के ७८ नंबर में स्वा० द० ने "जिस

वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है जैसे कि अग्नि में रूप और दाह अर्थात् जब तक वह वस्तु बनी रहे तब तक वह उसका गुण भी नहीं छूटता इसलिये उसको स्वभाव कहते हैं" यह स्वभाव का लक्षण लिखा है। और ३८ नंबर में "जो जन्म से लेकर मरण पर्यंत बनी रहे तथा जो अनेक व्यक्तियों में एक रूप से प्राप्त हो और जो ईश्वरकृत हो वह जाति कहलाती है" इस प्रकार जातिका लक्षण लिखा है। जाति और स्वभाव इन दोनों के उपर्युक्त लक्षण पर विचार करने से दोनों आपस में अन्योन्याश्रय प्रतीत होते हैं। जाति में स्वभाव और स्वभाव में जाति आपस में अन्योन्याश्रित हैं। इसी लिये ५१ पृष्ठ में "योऽवमन्येत तेऽमूले" इस २।११ मनु के पद्य के व्याख्यान में स्वा० द० ने "वेदनिंदक नास्तक को जाति, पंक्ति,और देश से बाह्य कर देना चाहिये" ऐसा लिखा है। जाति शब्द से यहां पर ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सब जातियां उपलक्षित हैं। इसी लिये ३९८ पृष्ठ में स्वा० द० ने जाति और जातिभेद इन दोनों को ईश्वरकृत माना है । (सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः) यह योगदर्शन का सूत्र इस में प्रमाण है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणांच परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः १८।४१

भगवद्गीता के इस पद्य में—भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमुख से कहते हैं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के कर्मों को स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों ने अलग २ किया है। इस पद्य में स्वभाव से गुणों का और गुणों से कर्मों का यथाक्रम प्रादुर्भाव प्राकृतिक नियमानुकूल बतलाया गया है । कर्मविभाग भी

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः १।२८

मनु के इस पद्यानुसार ईश्वरकृत ही है। ईश्वर ने जिस जाति के लिये जो कर्म वेदमन्त्रों द्वारा पहिले सृष्टि के आरम्भ-काल में नियत किया है और जिस जाति को जिस कर्म में लगाया है, वह उस जाति में बार बार उत्पन्न हो कर भी उसी ईश्वरनियत कर्म में प्रवृत्त होता है। वेद में इसीलिये जाति और कर्म का साथ २ प्रतिपादन मिलता है। देखिये-

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यम् ३०।५
नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषम् ३०।६

यजुर्वेद के इन मन्त्रों में ब्राह्मण के लिये वेदाध्ययन, राजन्य के लिये (क्षत्र) रक्षण, इसी प्रकार सूत के लिये नाचना, शैलूष के लिये गाना आदि कर्म बतलाया है। इस विषय का विस्तृत विवरण हमने वैदिकवर्णव्यवस्था, और "वेदत्रयी-समालोचन" के "वैदिक जातिविभाग" प्रकरण में किया है, पाठक वहीं देखें।

डबल चेलेंज

स्वामी दयानन्द ने स० प्र० के ८५ पृष्ठ पर लिखा है कि "छांदोग्य में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय, मतंगऋषि चांडाल कुल से ब्राह्मण हो गए" यह स्वा० द० का लेख सर्वांश में ग़लत है। मालूम होता है कि स्वा० द० इतिहास में सर्वथा कोरे थे, तभी तो ऐसा अनर्गल लिखा है।

जाबाल ब्राह्मणवीर्योत्पन्न थे, इसी लिये "नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति" ऐसा उनके विषय में छांदोग्य में लिखा है। वास्तवमें अज्ञातकुल तो दयानन्द हैं जिनके लिये कोई कापड़ी कहता है, कोई ब्राह्मण कहता है। अभीतक कुल का पता ही नहीं। इसी लिये अपनी बलाय उन्होंने जाबालि पर टाली है। परन्तु यह बलाय टलने वाली नहीं है।

विश्वामित्र के विषयमें "वर्णपरिवर्तन" का आख्यान महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ३ में विस्पष्ट लिखा ही है। रहा मतंग वह एक जन्म में क्या कई जन्मों में भी ब्राह्मण नहीं बना। इसका उपाख्यान महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय २७ से लेकर २९ तक बराबर लिखा है। हम इस विषय में समाजियों को "उपलचेलेंज" देते हैं कि वह मतंग का महाभारत से ब्राह्मण होना सिद्ध करें। नहीं तो अपने गुरु दयानन्द की गलती मानकर सत्य का आश्रय लें।

वर्णव्यवस्था पर शास्त्रार्थ

अभी थोड़े ही दिन हुए १।७।३।१६ को गुरुकुल कांगड़ी में वर्णव्यवस्था पर एक अपूर्व शास्त्रार्थ हुआ था। आर्यसमाज ने अपनी समस्त शक्ति एकत्र कर के इसका आयोजन एकत्रित किया था। अन्य पण्डितों के होते हुए भी लाला मुन्शीराम ने अपने पुत्र को प्रसिद्ध करने के लिए अपनी ओर से इन्द्र को खड़ा किया। इधर सनातन धर्म की ओरसे भी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् व्याकरणाचार्य श्री पं० गिरिधर शर्मा जो उत्तर देने के लिए उपस्थित थे। फिर क्या था। जिस प्रकार गोवर्द्धन को उठा कर गिरिधर श्रीकृष्ण ने इन्द्र का दर्पदलन किया था उसी प्रकार हमारे प्रिय मित्र श्री पं० गिरिधरशर्मा जो ने

भी समक्षागत लालोपलालित नकली इन्द्र का सर्वदा के लिए दर्पदलन कर दिया। यह शास्त्रार्थ मासिक पत्र "ब्रह्मचारी" के उपहार में आगरे से मिलता है जो देखने योग्य है। इसमें आर्यसमाज के सिद्धान्त की धज्जियां उड़ी हैं, दयानन्दी उनको आजन्म न भूलेंगे।

दयानंद का हमसे प्रश्न

स्वामी दयानन्द ८७ पृष्ठ में हम से पूछते हैं कि "जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच अंत्यज अथवा कृश्चीन मुसलमान हो गया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते"। इस प्रश्न का उत्तर सीधा है। हम उसको पतित ब्राह्मण कहेंगे; क्योंकि उसने अपने धर्म को छोड़ मतान्तर का ग्रहण किया है। परंतु शरीर रहने तक वह जन्म के ब्राह्मणत्व से नहीं गिरेगा। स्वभाव और जाति के लक्षण में स्वा० द० ने जाति को इसीलिये नित्य माना है। नाबदान में पड़ी जलेबी, और भंगी का छुआ हुआ घड़ा इसका दृष्टांत है। उसके गिरने और छूने से वज़न में कुछ कमी नहीं हुई है। जाति वही है परंतु पतितता उनमें आ गई है। वह हिंदूधर्मानुसार अपनी जाति में जातिच्युत हो गया। उसका "जाति, पंक्ति और देश से बाहिर करना" स्वा० द० भी मान चुके हैं। इसलिए स्वा० द० का यह प्रश्न केवल मूर्खता मात्र है।

सृष्टिप्रकरण का मन्त्र

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः
ऊरूतदस्ययद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रोऽअजायत ३१।११

यह यजुर्वेद का मन्त्र है। इसमें सृष्टि प्रकरण का निर्देश है। सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मणादि चारवर्ण कैसे उत्पन्न हुए और कहाँ से हुए इस बात का प्रदर्शक यह मन्त्र है। गुणकर्म स्वभाव यह तीनों शब्द अध्याय भर में नहीं हैं और न इनका यहाँ पर प्रसंग है। "ततोविराडजायत" ३१।५ इस मन्त्र से लेकर "लोकाँअकल्पयन्" ३१।१३ इस मन्त्र तक समस्त सृष्टि वर्णन "अजायत" इस क्रिया से ओत प्रोत है। कहीं कहीं पर (चक्रे-जज्ञिरे-जाताः-आसीत्-समवर्तत-अकल्पयन्) ये क्रिया पद भी आये हैं। अब हम इस मन्त्र का अर्थ करते हैं।

ब्राह्मणः अस्य विराजो मुखादजायत। राजन्यो बाह्वोरजायत। वैश्यऊर्वोरजायत। शूद्रः पद्भ्यामजायत, "इस विराट् पुरुष के ब्राह्मण मुख से क्षत्रिय बाहू से, वैश्य ऊरू से, शूद्र पैरों से पैदा हुए" यह मन्त्रों के पदों का अर्थ है। वेद में लिंग का व्यत्यय होता है। यह नियम है इस लिए पंचमी के स्थान पर प्रथमांत निर्देश है। और प्रत्येक के साथ में "अजायत" इस क्रिया का सम्बन्ध है।

यस्मादेतेमुख्यास्तस्मात् मुखतोह्यसृज्यंत इति ।

यह व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है। ये दोनों ग्रन्थ वैदिक हैं। उस समय के आचार्य भी उपर्युक्त मन्त्र का सृष्टिक्रम के साथ ही उपक्रम मानते थे। तभी तो ऐसा अर्थ किया है। अन्धभक्त ने भी शतपथ के वचन का पृ० ८७ में "जिससे वे मुख्य हैं इससे मुख से उत्पन्न हुए ऐसा कथन संगत होता है" यह अर्थ किया है। "शरीरावयवाद्यत्" ५।१।६ इस सूत्र से यत् प्रत्यय होने पर "मुखेभवोमुख्यः"

बनता है। इसी लिए शतपथ में "मुख्य" पद का प्रयोग किया गया है।

मन्त्र के अर्थ में धोखा

जो पद मन्त्र में नहीं है उसका स्वार्थ सिद्धि के लिये उसके अर्थ के साथ २ प्रवेश करना धोखा देना कहाता है। इस मन्त्र के अर्थ में अंधशिष्य ने यही किया है। हम उनके हिमायतियों से पूछते हैं कि मन्त्र में "अस्य" पद का अर्थ तो पूर्वानुगत "विराजः" पद के साथ समाप्त हो गया फिर "पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो" यह मन्त्र के किन पदों का अर्थ है। इसी प्रकार "जो पग अर्थात् नीच अंग के सदृश मूर्खत्वादि गुण-वाला हो" यह अर्थ मन्त्र के किस पद का है। समाज के लीडर बतावें ? नहीं तो हम ईश्वर के दरबार में दयानन्द पर धोखा देही का दावा दायर करेंगे, और हमसे पहिले ईश्वर उनको स्वयं "बसिपत्र" में भेजेगा। क्योंकि उसके ज्ञान स्वरूप वेद का अंधेश्वर ने विरुद्ध अर्थ किया है।

असंभव नहीं है

सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिए कोई बात असम्भव नहीं है। वह एक एक रोम से अनेक ब्रह्माण्ड बना सकता है। मुखादि की तो बात ही क्या है। असम्भव तो वास्तव में स्वामी दया-नन्द की बात है जो सृष्टि के आरम्भ में बिना माता पिता के जवान २ जोड़े आसमान से टपके हुए मानता है। बिना माता पिता के जवान जवान जोड़े टपकाना तो अंधशिष्य के मत में संभव है। परन्तु मुखाद्यवयवजन्य सृष्टि पर शंका है! बलिहारी है इस बुद्धि पर, क्या कहना है ? यहाँ तो लखनऊ

के वाजिदअलीशाह भी मात कर दिये। वह भी इस प्रकार से ज़मीन आसमान के कुलावे नहीं मिलाते थे।

बड़ी दूर की सूझी

स्वामी दयानन्द लिखता है कि "जो मुखादि अंगों से ब्राह्मणादिक उत्पन्न होते तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसे मुख का आकार गोल माल है वैसे ही उनके शरीर का भी गोल माल मुखाकृति के समान होना चाहिए" । पृ० ८८। यह स्वामी दयानन्द का तर्क बड़ी मूर्खता का है। जगत का उपादान कारण "जन्माद्यस्ययतः १, यतोवाइमानिभूतानि जायंते" इत्यादि प्रमाणों से ईश्वर है और वह आप के मत में निराकार है। तब निराकार से उत्पन्न जगत उपादान कारण के सदृश निराकार क्यों न बना। यदि आप प्रकृति को उपादान कारण मानते हैं तो वह भी अदृश्य है। क्योंकि सत्वरजतम की जो "साम्यावस्था" है वह किसी को दीखती नहीं है। तब अदृश्य प्रकृति से दृश्य जगत् कैसे बना ? इनको भी जाने दीजिये। हम संसार में योनि-प्रदेश से उत्पन्न होने पर भी मनुष्यों का योनिजैसा नहीं पाते इससे स्वा० द० के कथन की सर्वांश में असारता ही ठहरती है।

जोड़ा काट दिया

संस्कृत साहित्य में जहां कहीं पर दो श्लोकों का मिलकर अर्थ होता है उसको "द्वाभ्यां युग्ममितिप्रोक्तं" इस प्रमाण से "युग्म" कहते हैं। उसमें से एक को काट कर दूसरे का अर्थ करने से अनर्थ हो जाता है। स्वा० द० ने यही किया है। देखिये—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान्श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च १०।६५

मनुस्मृति में यह युग्म पद्य है। इसका अर्थ यह है कि—"शूद्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न होते २ सात जन्म तक यदि इसी क्रम से पैदा होता जाय तो सातवें जन्म में जाकर शूद्र ब्राह्मण नहीं-किन्तु ब्राह्मण के सदृश होजाता है। और ब्राह्मण शूद्र नहीं, किन्तु शूद्र जैसा होजाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्य से उत्पन्न हुए पुरुष को भी समझना।" यह इनदोनों श्लोकों का अर्थ है। स्वा० द० ने सब को एक लाठी से हांककर घोर अनर्थ किया है। देखिये

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पंचमेसप्तमेपि वा (याज्ञवल्क्य स्मृति ९६) जन्मांतरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां पंचमेन, सप्तमेन वा जन्मनेत्याचार्याः (गौतमस्मृति ४।८) निषादेन निषाद्यामापंचमाज्जातोऽपहंति शूद्रताम्(बौधायन)

यह प्रमाण भी पाँचवें अथवा सातवें जन्म में वर्णका परिवर्तन मानते हैं। एक जन्म में नहीं। युगशब्द जन्मांतर का बोधक है। इसीलिये छल के साथ स्वा० द० ने युग्म से एक

को अलग करके जन्मान्तर को छिपाने के लिए यह चेष्टा की है जो चली नहीं।

त्वतल्प्रत्ययांतशब्दव्यवस्था

तस्यभावस्त्वतलौ ५।१।११९ इस सूत्र से भाव में त्व और तल प्रत्यय होते हैं। "शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भावशब्देनोच्यते" यह काशिका में लिखा है। "तेनतुल्यं क्रियाचेद्वतिः ५।१।११५ इस सूत्र से केवल क्रिया में तुल्यता होने पर वति प्रत्यय होता है। गुण और द्रव्य से तुल्य होने पर नहीं। इसी को सादृश्य कहते हैं। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वं सादृश्यम्। भिन्न होने पर कुछ अंश में तुल्य होना सादृश्य कहाता है। इसके उदाहरण क्रमशः —

सजीवन्नेवशूद्रत्वम् २।१६८

ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् १०।६५

सशूद्रवद्बहिष्कार्यः २।१०३

याति स्थावरतां नरः १२।९

बकवच्चिन्तयेदर्थान् ७।१०६

यह मनु के पद्य हैं और स० प्र० के ४७।८८।६६।२६४।१५७ पृष्ठों में छपे हैं। शूद्रत्वं का अर्थ "शूद्र भाव" स्वा० द० ने ४८ पृष्ठ में स्वयं किया है। (शूद्रता शूद्रसादृश्यम्) शूद्रभाव को प्राप्त होना और शूद्र होना इसमें बड़ा अंतर है। (शूद्रवद्यविप्रः) यहाँ शूद्र सदृश मात्र प्रयोजन है। यदि सर्वांश में तादृप्य माना जावे तो एक जन्म में ही "स्थावरता" और "बकवत्"

होना पड़ेगा जो असंभव है इसलिये सादृश्य ही यहाँ पर ग्राह्य है।

चोरी पकड़ी गई

दयानन्द ने ८८ पृष्ठ में आपस्तम्ब के "धर्मचर्यया...अधर्मचर्यया" इन दो सूत्रों में आए हुए "जातिपरिवृत्ती" इस सप्तम्यन्तपद को अर्थ करने के समय चुराया परन्तु यह चोरी छिप न सकी। यह पद मरने के बाद जन्मांतर में क्रमशः जातिपरिर्तन मानता है इसी कारण से सूत्र में "पूर्वपूर्व" यह पद आया है।

चत्वारोवर्णाब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ४ तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् (आपस्तंब) १।१।१

यह भी दो सूत्र आपस्तम्ब के ही हैं। इनमें चारों वर्णो में पहिला २ "जन्मनः" श्रेष्ठ है यह बतलाया गया है। एक ही ग्रन्थ में विद्यमान प्रकरण को आगे पीछे न देखकर स्वा० द० ने जो लिखा है वह सब अनर्गल है।

पुनर्परिवर्तन अवैदिक है

८८ पृष्ठ में अंधशिष्य ने लिखा है कि जो पुरुष गुणकर्म स्वभाव से वर्णव्यवस्था मानेंगे "उनको अपने लड़के लड़कियों के बदले सवर्ण के योग्य दूसरे संतान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे"! क्या कहना है, जो राजसभा और विद्यासभा आप जैसी होगी वही ऐसा करेगी परन्तु जो कुछ भी शास्त्रसे परिचय रक्खेगी उससे यह आशा रखनी असंभव है। क्योंकि निरुक्त नै० अ० ३ पा० १ में लिखा है कि

[अपत्यं कस्मात् अपनतं भवति, नानेनपततीतिवा। तद्यथा जनयितुः प्रजा, एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः] ॥

परिषद्यंह्यरणस्यरेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ॥ न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः ५।६।२

यह ऋग्वेद का मंत्र है इस में बतलाया है कि जिस के वंश में पिंडदान जलदान देने वाला कोई नहीं रहा हो उसका धन नहीं लेना चाहिये, पितृपरंपराप्राप्त धन का ही उपभोग करना चाहिये, दूसरे का पुत्र कभी अपना नहीं होता है। जो ऐसा मानता है वह "अचेतान" प्रमत्त है, इसलिये हमको प्राचीन मार्ग से अलग न होना चाहिये।

न हि ग्रभायारणः सुशेवोन्योदर्यो मनसा मन्तवाउ ॥ अधाचिदोकः पुनरित्स एत्यानो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ५।६।३

यह भी ऋग्वेद का मंत्र है। इसमें कहा गया है कि अत्यन्त सुख देने वाला भी दूसरे का पुत्र अपना कभी मन से भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि वह जहां का होता है वहीं फिर वापिस चला जाता है। इसलिये पैदा हो हमारे वंश में वह पुत्र जो शत्रुजित् हो। यह दो मंत्र निरुक्त में भी हैं। इसीलिये स्वा० द० का कथन वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण है।

वीर्याकर्षणविधि

६३ पृष्ठ में स्वा० द० लिखते हैं कि "जिस दिन ऋतु दान देना योग्य समझें उसी दिन...विवाह की विधि को पूरा कर

के एकान्त सेवन करे। पुरुष वीर्य स्थापन और स्त्री वीर्या कर्षण की जो विधि है उसीके अनुसार दोनों करें। जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय...... पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्यप्राप्ति समय अपान वायु को ऊपर खींचे, योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे" यहां स्वामी दयानन्द का संन्यासधर्म वास्तव में पूरा हो गया है, कलियुगी संन्यासियों का यही कर्तव्य होना भी चाहिये। हम यहां अंधभक्त से पूछते हैं कि यह "वीर्याकर्षणविधि" तुमको किस वेदमंत्र में मिली है? यदि वेद में नहीं है तो तुमने इसका उपदेश क्यों किया? दो ही बातें हैं या तो मंत्र बताओ नहीं तो यहां पर तुम्हारी कलई खुलनी है। क्योंकि बिना प्रमाण के और बिना अभ्यास के इस विषय में कुशलता प्राप्त करनी असम्भव है।

सालममिश्री का नुसखा

६४ पृष्ठ में स्वा० द० ने लिखा है कि इस वीर्याकर्षण-विधि को पूरा करके "सोंठ केसर असगंध छोटी इलायची और सालममिश्री डाल गर्म कर रक्खा हुआ जो ठंडा दूध है उसको यथारुचि दोनों पी के अलग अलग अपनी अपनी शय्या में शयन करें" प्रायः कामी पुरुष ऐसा ही करते हैं जैसा स्वा० द० ने लिखा है। ऐसा करने से विषय की इच्छा अधिक बढ़ती है। इस मसाले का आनन्द लेने के लिये ही अगाड़ी नियोग प्रकरण लिखा गया है। हम इस मसाले का पता दयानन्द से पूछते हैं? वह बतावें किस वेदमंत्र में इस नुसखे का विधान है। यदि नहीं है तो आपने लिखा क्यों है?

योनिसंकोचनविधि

९५ पृष्ठ में स्वामीजी लिखते हैं कि बच्चा जनने के बाद "स्त्री भी अपने शरीर की पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम-भोजन करे और "योनिसंकोच" आदि भी करे...दूध बंद करने के लिये स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिससे दूध स्रवित न हो" स्वामी जी इस लेख में कई बात लिखनी भूल गये हैं। एक तो यह नहीं लिखा कि यह विधि किस वेदमंत्र में वर्णित है। दूसरे उत्तम भोजन सामग्री भी लिखनी भूल गये। योनि पर क्या दवा लगाई जावे और स्तन पर क्या लेप हो? आशा है अबकी बार प्रतिनिधि छाप देगी?

देवतर्पणमीमांसा

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव" इस मंत्र प्रमाण से ब्रह्मा देवताओं में पहिला माना गया है। आदि पद से जो कि "ब्रह्मादयो देवास्तृप्यंताम्" इस मंत्र में आया है विष्णु और महेशप्रभृतिका ग्रहण है। स्वा० द० ने इनको ११८ पृष्ठ में पूर्वज विद्वान् कहकर माना है। इनकी पत्नी सावित्री, लक्ष्मी, पार्वती हैं। मरीचि आदि इनके पुत्र हैं, गण पुराण वेद में कहे गए हैं। इनके नाम से इनको स्वधा देना देवतर्पण कहाता है। देवताओं में विद्या स्वतः सिद्ध होती है—इसलिये "विद्वांसो- हिदेवाः" ऐसा शतपथ में आया है। स्वा० द० ने जो इसका अर्थ किया है वह महा अशुद्ध है।

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं

त्रिंशच्च देवा नवचासपर्यन् ७। ३३

इस मंत्र में ३०० देवताओं का ३००० से गुणा करके ९००००० संकलन होता है—और उसमें ३९ का फिर संहनन करके ३३ करोड़, ३३ लाख, ३३ हजार, ३३३ तीन सौ तेतीस इतने भेद होते हैं। यह विचार आचार्य महीधर ने अपने वेदभाष्य में किया है।

ऋषितर्पणमीमांसा

मरीचि आदि ब्रह्मा के दश पुत्र और उन पुत्रों के अठासी हज़ार पुत्र पौत्र और उनकी स्त्रियां और गण ये सब ऋषि कहे गए हैं, उनको स्वधा देना ऋषितर्पण कहाता है। "अष्टाशीतिः सहस्राणि ऊर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुः" (महाभाष्य) ४।१।७९ ॥ स्वा० द० ने जो "मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्" इस मंत्र में विद्यमान मरीचि शब्द का "मरीचिवत्" अर्थ किया है वह अत्यंत अशुद्ध है।

पितृतर्पण-मीमांसा।

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणांसर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥

हिरण्यगर्भ मनु के जो मरीचि आदि पुत्र हैं उन पुत्रों के जो पुत्र हैं वे सब पितृगण कहलाते हैं। (मनु० ३।१९४) उनमें सोमसद विराट के पुत्र हैं, अग्निष्वात्त मरीचि के पुत्र हैं, बर्हिषद् अत्रि के पुत्र हैं, सोमपा भृगु के पुत्र हैं, हविर्भुज अंगिरा के पुत्र हैं, आज्यपा पुलस्त्य के पुत्र हैं, सुकालिन् वसिष्ठ के पुत्र हैं,(३।१९८) इनके नाम से अन्न और जल देना पितृतर्पण कहाता है।

वैदिक श्राद्ध मीमांसा

अथर्व वेद के अठारवें कांड में जिस मृतक श्राद्ध का ईश्वर ने आदेश किया है उस पर विश्वास न करते हुए कुछ नास्तिकों ने वैदिक श्राद्ध पर अनेक शंकायें उपस्थित की हैं जिनका उल्लेख इसी प्रकरण में अन्यत्र मिलेगा। हमारी अनुमति में शंकाओंका उठना बुरा नहीं है क्योंकि शंकाओं के उठने पर उनका समाधान भी हो ही जाता है। परंतु शंकाओं के उठने पर शंकित विषय का अनुष्ठान तक छोड़ देना अवश्य भयंकर है इसलिये शंकाओं के उठने पर भी आस्तिक जनों को वैदिक विषय का अनुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिये।

श्रद्धा और श्राद्ध

निघंटु में विद्यमान श्रत् शब्द से (श्रच्छब्दस्योप संख्यानम्) इस वार्तिक के द्वारा "अङ्" प्रत्यय होने पर श्रद्धा शब्द बनता है। (चूडादिभ्य उपसंख्यानम्) इस वार्तिक से श्रद्धा से — श्राद्ध बन जाता है॥ निघंटु के पंचमाध्याय के तृतीय खंड में श्रद्धा को भूस्थान देवता माना है — जिसका अर्थ करते हुए देवराज यज्वा ने कलकत्ते के छपे (३८३) पृष्ठ में [धर्मार्थ सुखाप वर्गेषु यथाशास्त्रमधिकृतः पुरुषस्य कर्मानुष्ठान-हेतुभावप्रख्यानात् बुद्ध्यधिदेवता श्रद्धा] इस प्रकार लिखा है — और उदाहरणमें [श्रद्धयाग्निः समिध्यते ८। ६।१] यह मंत्र दिया है। निघंटु और व्याकरण दोनों-वेदांग हैं। अंग अंगी से भिन्न नहीं माना जाता है। वेदाङ्ग प्रतिपादित श्राद्ध शब्द वेद से भिन्न नहीं है। यही यहां पर वक्तव्य है।

श्रद्धा शब्द का वैदिक अर्थ

श्रद्धावा आपः ॥१॥

यह कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् की श्रुति है। इसमें श्रद्धा शब्द से जल का ग्रहण किया है। इसी लिये इसकी व्याख्या करते हुए जगद्गुरु श्रीस्वामी शङ्कराचार्य ने [अग्निहोत्राहुतिपरिणामावस्थारूपाः सूक्ष्मा आपः श्रद्धाभाविताः श्रद्धा उच्यन्ते] इस प्रकार लिखा है। अग्निहोत्र में दी हुई आहुति के परिणाम रूप को पहुँची हुई जल की जो सूक्ष्म कणिका हैं वही श्रद्धा विश्वास करके भावित श्रद्धा कही जाती हैं, जिनका दूसरा नाम स्वधा है। उन जलकणों का जिस कर्म में लोकांतर पहुंचाना ही अभिप्रेत हो उस कर्मविशेष का नाम श्राद्धकर्म है। लोक में विश्वास को भी श्रद्धा कहते हैं।

श्राद्ध पर शंकायें

आर्यसमाजियों की ओर से आजकल जो जो शंकायें मृतक श्राद्ध पर होती हैं उनकी संख्या इस प्रकार है। (१) क्या ब्राह्मणों का पेट लेटर बक्स है जिसमें अन्न जल देने से पितरों को मिल जाता है (२) वेद में यमराज का और यमलोक का वर्णन नहीं है (३) जो शरीर यहां पर भस्म होगया है वह स्वर्ग में कैसे जा सकता है (४) स्वर्गलोक पितृलोक कोई लोक विशेष नहीं हैं (५) श्राद्ध विधायक मंत्र ब्राह्मणों ने अपनी ओर से बना कर वेद में मिलाए हैं (६) ब्राह्मण भोजन विधायक मंत्र वेद में नहीं हैं (७) मासिकादि श्राद्ध का वेद में विधान नहीं है (८) श्राद्ध सनातन नहीं किन्तु आधुनिक है इत्यादि इत्यादि। इन शंकाओं के उठने पर बहुत

से समाजी श्राद्ध करना छोड़ देते हैं इस लिये हम इन सब का निराकरण करेंगे।

दयानंद का श्राद्ध।

प्रथम संस्करण के स० प्र० में ४२ और ४३ पृष्ठ पर स्वा० द० ने पितृतर्पण और श्राद्ध का प्रतिपादन करते हुए—

संबंधिभ्यो मृतेभ्यः स्वधानमः।
सगोत्रेभ्यो मृतेभ्यः स्वधानमः॥

इत्यादि मंत्र लिखे हैं और "दक्षिणाभिमुख प्राचीनावीति और पितृतीर्थ से पितृकर्म, श्राद्ध और तर्पण करना चाहिये" यह भी लिखा है। इसके अलावा संस्कार विधि में अब तक [पितरःशुन्धध्वम् १९।३६] यजुर्वेद के इस मंत्र से दक्षिणाभिमुख होकर जल छोड़ना चला आ रहा है यह मृतक श्राद्ध का समर्थन नहीं तो और क्या है? दयानंद दक्षिणायन में कृष्णपक्ष की अन्धकारमय रात्रि में मरे हैं, यह सभी को विदित है। इसीलिये भगवद्गीता के (८।२४) पद्यानुसार न उनको मोक्ष मिल सकता है, न स्वर्ग मिल सकता है, तब उनकी क्या गति हुई यह प्रतिनिधि से पूंछना चाहिये, क्योंकि वही उनके स्थानापन्न है।

श्राद्ध की सनातनता।

श्राद्ध वैदिक होने के कारण अनादि काल से चला आता है। मुनिवर श्रीपाणिनि, भगवान् भाष्यकार पतंजलि, आचार्य पारस्कर, स्वनामधन्य कैय्यट इसीलिये इसका समर्थन करते हैं। देखिये—

प्रज्ञा श्रद्धार्चावृत्तिभ्योणः ५।२।१०१
श्राद्धमनेनभुक्तमिनिठनौ ५।२।८
श्राद्धाय निगर्हते १।४।२३
श्राद्धकरः । पिंडकरः ३।३।१४
यावद्भुक्तं न श्राद्धम् २।३।१७
श्राद्धाश्च खिन्नाः पितरश्च तृप्ताः १।१।१
श्राद्धं निंदति नास्तिकत्वात् १।४।२३

यदि श्राद्ध आधुनिक होता तो वेदाङ्ग में उसका वर्णन ही क्यों होता ? मुनि इसका समर्थन क्यों करते ? क्या पाणिनि आदि आचार्य बेवकूफ़ थे ? जो ऐसा लिख गए। पारस्कर गृह्य सूत्र की दसवीं कंडिका में १ से ५५ सूत्र तक श्राद्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है।

श्राद्ध शब्द प्रेतक्रिया में रूढ़ है।

श्राद्ध और तर्पण ये दोनों शब्द मृत पितरों के लिये अन्न-दान, जलदान कृत्य में रूढ़ हैं। इनके नाम लेने से ही मृतक कृत्य का बोध होता है। यदि श्रद्धा से किये हुए प्रत्येक कर्म को श्राद्ध माना जावे तो विवाह, मैथुन, पुत्रजन्मोत्सव, यह सभी श्राद्ध ठहरेंगे जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। "निवापः पितृ-तर्पणम्" इति कोषः। स्वधा शब्द निघंटु में अन्न और जल के नामों में आया है, अन्य अर्थ में नहीं "स्वधा अन्नं जलं च" यह स्वा० द० ने स्वयं लिखा है, और "विश्वाहि माया अवसि स्वधावः" ४।२४।१ इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

कन्यागत श्राद्ध ।

श्राद्ध का आजकल लोक प्रसिद्ध नाम कनागत भी है, जो [कन्यागत] शब्द से बिगड़ कर बना है। कन्या राशि के कतिपय अंश जाने पर ही शरदऋतु में श्राद्ध होता है। इसी कारण [श्राद्धेशरदः ४।३।१२] इस सूत्र में "शारदिकं श्राद्धम्" ऐसा लिखा है। शरदृतु में श्राद्ध करने के कई कारण हैं। चन्द्रमा के किरणों का पूर्ण विकास १, सूर्य शक्ति का चांद्र शक्ति से तुल्य होना २, ओषधियों में रस का परिपाक ३, दिन रात का बराबर होना ४, जल का निर्मल होना ५, मेघ मंडल का न रहना ६, नीहार का आविर्भाव होना ७, नवीन कंदमूलफल अन्न का प्रारंभ ८, तृण के परिपाक से गो दुग्ध का अच्छा होना ६, तिल, चावल, मधु, कुश आदि का पकना १० आदि। ये सब कारण वैज्ञानिक हैं। विज्ञान तत्त्व के आधार पर इनका रहस्य विदित होता है।

परस्पर विरोध ।

प्रथम संस्करण के ४२ पृष्ठ में "पित्रादिकों में जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गए हों उनका अवश्य करे" यह लिखा है। उसी के १४६ पृष्ठ पर मांस के पिंड देने का स्पष्ट विधान लिखा है। वर्तमान १३वें संस्करण के १०० पृष्ठ पर "परन्तु यह जीवितों के लिये है मृतकों के लिये नहीं" यह लिखा है, यह दोनों लेख परस्पर विरुद्ध हैं।

दयानंदियों के पितृगण ।

१०१ पृष्ठ में स्वा० द० ने लिखा है कि पदार्थ विद्या में निपुण सोमसद विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले अग्निष्वात्त,

उत्तम व्यवहार में निपुण बर्हिपद, औषधों के देनेवाले सोमपा हैं। इस लेख से बढ़ई, लुहार, सुनार, चमार, रेल के ड्राइवर, रेलवे आदर के नौकर, डाक्टर, कंपौंडर, अमावस्या की रात्रि में रक्षा करनेवाले चौकीदार, चपरासी, दरोगा, कोतवाल, ये सब के सब समाजियों को पितर मानने पड़ेंगे। बलिहारी है! क्या खूब!

जीवित का श्राद्ध असंभव है

स्वा० द० के सिद्धांतानुसार जब लड़का गुरुकुल से पढ़ कर २५ का होके निकलेगा तब उसके पिता की अवस्था ५० की होगी। पचास के बाद उसको वानप्रस्थ में जाना होगा इस हालत में पिता पुत्र का एकत्र निवास ही न रहेगा फिर जीवित श्राद्ध कैसा? वेद में

एतत्ते ततस्वधा १८।४।७७

एतत्ते ततामहस्वधा १८।४।७६

एतत्ते प्रततामह स्वधा १८।४।७५

इन मन्त्रों के द्वारा तत—तात = पिता, ततामह = पितामह, प्रततामह = प्रपितामह-इन तीनों के लिये स्वधादान लिखा है जो जीवितों के लिये सर्वथा असंभव है। समाजी ज़रा इस बात पर ध्यान दें! यह व्यवस्था हमने प्रथम ब्रह्मचर्य के हिसाब से लगाई है ॥३६ और ४८ का हिसाब अभी लगाने को बाकी है।

वेद में मृत शब्द

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैषा मधुधारा व्युन्दती १८।४।५७

जो हमारे पितर (जीवाः) जीवात्मस्वरूप हैं (येचमृताः) जो जन्म लेकर मर चुके हैं (येजाताः) जो मर कर पैदा होगए हैं और (येच यज्ञियाः) जो यज्ञ विष्णु के गर्भ में हैं उन सब को (व्युन्दती) टपकती हुई यह मधु की धारा और यह घृत की नदी प्राप्त हो। इस मंत्र में मृत पितरों के लिए श्राद्ध का विधान है।

जीव-जीवित-मीमांसा

वेद में जहां जीव शब्द का प्रयोग मिलता है वहां केवल जीव स्वरूप का ही बोधक है किसी शरीरविशिष्ट प्राणी का नहीं। जीव और जीवित इन दो पदों के अर्थ में बड़ा अंतर है। (जीवःसंजातो अस्य असौ जीवितः) जिस देह में जीव प्रविष्ट होता है उसको (जीवी जीववान् जीवित) कहते हैं। इसलिये जो मुनि जीव पद से जीते पिता का श्राद्ध सिद्ध करते हैं वे सर्वथा कौपिक हैं, वृद्ध होने के कारण उन पर हमको दया आती है इसलिये अधिक नहीं लिखते हैं।

श्राद्ध का प्रयोजन

हमारे द्वारा दिये हुए अन्नजल को परलोक में पाकर जब पितर प्रसन्न होते हैं तब हमको धन धान्य कलत्र पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं। यह परस्परोपकार इसका पहिला प्रयोजन है। गर्भ में आने से पूर्व जब हमारा जीवात्मा विना आधार के व्याकुल हो रहा था उस समय हमारे माता पिता ने अपना शरीर नष्ट कर रजवीर्यदान से हमको आश्रय दिया। आज मरने के बाद मार्ग में उनका कोई पाथेय नहीं इसीलिये दशगात्र द्वारा उनको पितृलोक तक पहुंचा कर श्राद्ध के द्वारा उनको वहां अन्न जल का अंश पहुँचाना हमारा कर्तव्य है।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः ।
अस्मांस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म१८।४।८७

इस मंत्र में परस्परोपकार का वर्णन है। मंत्रार्थ इस प्रकार है, (हे जीवाः पितरः)। हे जीवात्मरूप पितृगणो! (इह) इस आपके वंश में (ये वयंस्मः) जो हम लोग आपके सगोत्र हैं (ते) आप (अस्माननु) हमारे लिये श्रेष्ठ हों और (वयं) हम आपके पुत्र पौत्र (तेषां) आपके लिये श्रेष्ठ हों। इसी के आधार पर श्राद्ध परस्परोपकारी माना गया है।

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयिकल्पतामस्मिंलोके शतं समाः ॥

यह मंत्र यजुर्वेद १६।४६ का है। मंत्रार्थ इस प्रकार है (जीवेषु) पितृलोकगत जीवों में जो (समानाः) सूत्रात्म रूप से तुल्य (समनसः) एक मन वाले (मामकाः) हमारे संबंधी (जीवाः) जीवात्म रूप पितृगण हैं उनकी सम्पत्ति इस लोक में सौवर्ष तक मुझको प्राप्त हो (शतायुर्वैपुरुषः) अर्थात् मैं आप का पुत्र सौवर्ष तक उसका उपभोग कर सकूं। इस मंत्र में सूत्रात्म रूप से पुत्र का पिता की आत्मा के साथ संबन्ध और पितृ-संपत्ति के भोगने का पुत्र को अधिकार बताया गया है।

मासिकश्राद्धविधान

सोदक्रामत्सापितृनागच्छत्
तांपितरोघ्नत सा मासि समभवत्

तस्मात्पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति
प्र पितृयाणं पंथां जानाति यएवं वेद
(८।१०।३।४)

वह विराट् की शक्ति उपर को चली—चलकर — पितरों में पहुंची — पितरों ने उसको भेजा — वह मास में प्रविष्ट हुई इसलिये पितरों को मास मास में श्राद्ध भोजन देते हैं जो इस बात का रहस्य जानता है वह पितृयाण मार्ग को भी जानता है। इस मंत्र में मासिक श्राद्ध का वर्णन है।

अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः
सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत्
मासि मासि वोशनं स्वधा, मनोजवः
चंद्रमावो ज्योतिरिति श० २।४।२।२

प्रजापति के पास पितर अपसव्य हो बाईं जंघा झुका कर बैठे प्रजापति ने उनसे कहा मास २ में तुमको अन्न मिलेगा मन के समान तुम्हारी शीघ्र गति होगी और चंद्रमा का प्रकाश देखने को मिलेगा। इस मंत्र ब्राह्मण में भी मासिक श्राद्ध का ही विधान मिलता है। (मासे नस्याद् हो रात्र : पैत्रः। पित्र्ये रात्र्यहनी मासः) इस कोष और मनु के प्रमाण से हमारा एक मास पितरों का एक दिन होता है, इस लिये अमावास्या में श्राद्ध करने से पितरों को दैनिक भोजन मिलता है और इसी लिये पितर अमावास्या की प्रतीक्षा करते रहते हैं और "कुह्" २ कह कर उसको पुकारते हैं।

श्राद्ध का समय

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यंदिनो मनुष्याणां ।
अपरान्हः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददति ॥
श० प० २।४।२८

दिन का पूर्व भाग देवताओंका है। इसलिये हवन मध्यान्ह से पूर्व करना उचित है। मध्यान्ह मनुष्यों का है, दिन का उत्तर भाग पितरों का है, इसलिये श्राद्ध संबन्धी ब्राह्मण भोजन मध्यान्ह के पश्चात् १ बजे कराना चाहिये।

श्राद्ध का दिन

कुहूमहं सुवृतं विद्मनापसं
अस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि।
सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां
तस्यै ते देवि हविषा विधेम ७।१०।५

यह मंत्र अथर्ववेद की पिप्पलाद संहिता में तैत्तिरीय ब्राह्मण अष्टक ३ प्र० ३ अनु० ११ में आ० गृ० सूत्र में १।१० शौनक शाखीय अथर्ववेद के ७।४७।१ में कुछ परिवर्तित आया है इसमें कुहू शब्द से अमावस्या का ग्रहण है, मंत्रार्थ इस प्रकार है "मैं इस श्राद्ध रूप यज्ञ में (सुवृतं) पितरों के द्वारा वरण की हुई (विद्मनापसं) सर्वज्ञ कर्मों में प्रत्यक्ष उपस्थित हुई (कुहूं) अमावस्या को बुलाता हूँ। यह आकर हमारी प्रार्थना को पितरों तक पहुँचा दे। उस अमा को हम हविसे सत्कृत करते हैं। इस मंत्र में अमावास्या और पितरों का संबंध प्रति-

पादन किया है इसीलिये निरुक्त दै० अ०५ पा०३ में "सिनीवाली-कुहू" यह दो नाम अमावास्या के लिखे हैं। (कु हू) तू कहां है इस प्रकार पितर इसको बुलाते हैं। सूर्यचन्द्रमा के आमने सामने रहने से इसका नाम अमावास्या हुआ है। इसलिये पितरों का दिन अमावस्या है। मासिक श्राद्ध उसी में करना चाहिये। क्षयाह और पार्वण श्राद्ध का विधान इस श्राद्ध से भिन्न है। क्षयाह में पितर देश कालानुसार स्वयं उपस्थित रहते हैं।

श्राद्ध में पितृ-दर्शन

एक समय वन में रहते रहते वार्षिक श्राद्ध का समय भगवान के लिए उपस्थित हुआ। उस दिन लक्ष्मण ब्राह्मणों को निमंत्रण देने गए। और सीताजी पाक बना रही थी। इतने में ब्राह्मण आने लगे। उनको देखकर सीताजी तुरंत छिप गईं। उनके छिपने पर श्रीराम और लक्ष्मण ने मिलकर ब्राह्मणों को भोजन कराया। जब ब्राह्मण चले गये तब सीताजी निकलीं। उनसे भगवान जी ने छिपने का कारण पूंछा। प्रश्न के उत्तर में "पितातवमयादृष्टो ब्राह्मणांगेषुराघव" यह सीताजी ने कहा। जिसको सुन रामचन्द्रजी प्रसन्न हुए। फिर सीताजी ने कहा कि मैं लज्जावश छिप गई। पहिले राजा ने मुझको वस्त्राभूषण सहित देखा। आज मैं एक वल्कलवसना हूं। तिस पर भी उनके योग्य कोई भोग्यपदार्थ भी नहीं यह लज्जा का कारण है। यह कथा "पद्मपुराण" (सृष्टिखण्ड अ० ३३ श्लो० ७४-११०) में है।

मृतात्मगतिवर्णन

मरने के अनन्तर जीव की तीन गति होती है (१) मोक्ष ब्रह्म में लय (२) पितृलोक में निवास (३) बार बार जन्म लेना और मरना। इन तीन गतियों में जिनकी प्राणशक्ति अधिक

होती है वह आदित्य मंडल का भेदन करके ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। उनका आवागमन चक्र छूट जाता है। इसीलिये [नसपुनरावर्तते १ यद्गत्वान निवर्तंते २] इत्यादि प्रमाण लिखे गये हैं। इसी को ऊर्ध्व गति भी कहते हैं। जिनकी मनःशक्ति बढ़ी हुई है वे मरकर चन्द्रमा के ऊपर पितृलोक में निवास करते हैं। जिनका पुण्य अधिक है वे चन्द्रमंडल से निकल कर स्वर्गलोक में आनंद करते हैं। इसीलिये—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

ऐसा गीता में कहा है। इन दोनों गतियों को मध्यगति कहते हैं। जो प्राण और मनकी शक्ति से रहित हैं उनके लिये [जायस्व म्रियस्वेति.तृतीयं स्थानम्] ऐसा उपनिषद्ब्राह्मण में लिखा है। पैदा होना और मरना यही उनकी गति है। इसी को अधोगति भी कहते हैं। यही मृत आत्मा की तीन गति कही गई हैं।

हमारे पितृगण

जिनके रजवीर्य द्वारा हमारा शरीर बना है वह हमारे पितर हैं और वह मरने के बाद अन्तरिक्षस्थ पितरों में जाकर रहते हैं। अन्तरिक्ष में जब तक हमारे दिये अन्न जल का आधार पाते हैं तब तक रहते हैं जब श्राद्ध के द्वारा उनको कोई नास्तिक अन्न जल नहीं पहुंचाता है तब वे अवलंब के बिना वहाँ से गिर जाते हैं। इसीलिये भगवान ने अपने श्रीमुख से

पतन्ति पितरोह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः १४२।

ऐसा गीता में कहा है। प्रजा के वर्ण सकर होने पर श्राद्ध का

भंग हो जाता है, "औरस पुत्र का किया हुआ श्राद्ध ही पितरों को मिलता है। दोगले हरामी पुत्र का नहीं" जहाँ नियोग के द्वारा सभी वर्णसंकर हों वहाँ कौन किसका श्राद्ध करे? पुत्र को पिता का पता ही नहीं। माता ने ११ तक पति किये हैं। अब क्या पता चल सकता है कि कौन किसका पुत्र है इसी कारण से नास्तिक श्राद्ध का खंडन करते हैं।

यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः १०।२०।११

मृताः पितृषु संभवंतु १८।४।३८

यमराज्ञः पितृन् गच्छ १८।२।४६

इन मंत्रों में हमारे पितरों का उन पितरों में मिल जाना प्रतिपादित है। जो पितर पितृलोक में हैं, उनमें ही हमारे पितर भी मिल जाते हैं। इसीलिये निरुक्त दै० अ० ५ पा० २ में "उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः" इस मंत्र का व्याख्यान करते हुए यास्क ने "माध्यमिकोयमस्तस्मान्माध्यमिकान्पितृन्मन्यंते" यह लिखा है। "पितरो मध्यस्थाना देवता इति निरुक्तम्"।

पितरों का निवास स्थान।

उदन्वती द्यौरवमापीलुमतीतिमध्यमा
तृतीयाह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते १८।२।४८

अथर्ववेद के इस मंत्र में आकाश की तीन कक्षाओं का वर्णन है। उनमें अवमा पहिली कक्षा, उदन्वती (उदकवाली) है। मध्यमी कक्षा पीलुमती परमाणु वाली है (पीलवः परमाणवः) तृतीया (तीसरी कक्षा) प्रद्यु (प्रकृष्ट द्युतिवाली) है। नीचे से

चन्द्रमंडल ऊपर से सूर्यमंडल प्रकाश की अधिकता का कारण है। इसी में पितृगण निवास करते हैं।

स्वधापितृभ्यो अन्तरिक्ष सद्भ्यः १८।४।७९

स्वधापितृभ्यो दिविषद्भ्यः १८।४।८०

इन दो मंत्रों में भी पितरों का अंतरिक्ष में तथा द्युलोक में रहना सिद्ध है। और स्वधा अर्थात् अन्न जल के द्वारा उन को तृप्त करना भी प्रसंग सिद्ध है। अन्तरिक्ष में विद्यमान लोकों का अधिपति यमराज है, जिसका वर्णन अनुपद ही मिलेगा।

यमराज का वर्णन

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां
यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां
यमं राजानं हविषा सपर्यत १८।३।१३

यह मंत्र ऋग्वेद और अथर्ववेद में है, इसका ऋषि और देवता भी यम है, मंत्रार्थ यह है—

कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भ में जन्म लेकर जो इस सृष्टि में प्रथम ही मर चुका और मर कर यमलोक में प्रथम ही आया उस विवस्वान के पुत्र मनुष्यों को एकत्र करने वाले यम राजा को हवि से पूजित करो। इस मंत्र में यम लोक के अधिष्ठाता यमराज का वर्णन प्रत्यक्ष है। पितृलोक इसी के अधिकार में है। भूलोक में जो पदार्थ पितरों के निमित्त दिया जाता है वह यमराज के द्वारा ही पितरों को मिलता है, इसी लिये

वेद में "यमोराजानुमन्यताम्" १८ । ४ । २६ ऐसा पाठ मिलता है। और पितृतर्पण में "यमादिभ्योनमः" इस मंत्र से यम का तर्पण भी करना होता है।

लोकांतर के दो मार्ग

द्वे सृतीअशृणवं पितृणामहं देवानामुतमर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरापितरं मातरंच

यजुर्वेद के इस मंत्र में दोनों मार्गों का प्रतिपादन है। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है (अहं द्वे सृतीअशृणवम्) मैं दो मार्ग सुन चुका हूँ (देवानां उत मर्त्यानां पितृणाम्) देवता और मरणधर्म वाले पितरों का (एजत् इदं विश्वं ताभ्यांसमेति) कंपमान यह जगत् उनसे जाता है (यदन्तरापितरं मातरंच) जो माता पिता के योग से उत्पन्न होता है। देवयान और पितृयान यही दो मार्ग यजुर्वेद के १९ । ५८ मंत्र में तथा अथर्व के १८।४।६२ मंत्र में कहे गए हैं जो उत्तरायण और दक्षिणायन के वाचक हैं। जो इनका अर्थ मोटर रेल आदि करते हैं वे वास्तव में मूढ़ हैं।

श्राद्ध के तीन प्रकार

जल में तर्पण, अग्नि में हवन, स्थल में ब्राह्मण भोजन यह श्राद्ध के तीन प्रकार हैं। उनमें तर्पण सूचक मंत्र इस प्रकार है।

यास्ते धाना अनुकिरामि
तिलमिश्राः स्वधावतीः
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीः
तास्ते यमोराजानुमन्यताम् १८।४।२६

हे मृतात्मन्! जो तेरे लिये धान-तंडुल और तिल-स्वधा जल के साथ हम देते हैं वह तेरे लिये बहुत हों। और यमराज के द्वारा तेरे लिये प्राप्त हों। इस मंत्र में तर्पण का कुल सामान बतलाया गया है। और लीजिये—

धाना धेनुरभवत् वत्सो अस्यातिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवथि१८।४।३२

हे मृतात्मन्! चावल तेरे लिये गौ के प्रतिनिधि हैं, और तिल बछड़े के प्रतिनिधि हैं, इस तिल तंडुल रूप धेनुको यम के राज्य में पाकर समस्त जीवन के साधन प्राप्त करो।

घृतह्रदा मधुकुल्याः सुरोदकाः
क्षीरेणपूर्णा उदकेन दध्ना
एतास्त्वा धारा उपयंतु सर्वाः
स्वर्गलोके मधुमत्पिन्वमानाः ४।३४।६

हे मृतात्मन्! स्वर्गलोक में मधुर रूप से आनन्द देनेवाली घृत, मधु, दुग्ध, जल, दधि इन सब द्रव्यों की धारा तुमको प्राप्त हो। तर्पण में इन सब पदार्थों का देश काल पात्र भेद से उपयोग होता है।

अग्नि के द्वारा पितरों का आवाहन

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धृताः
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे १८।२।३४

अग्नि मनुष्यों के जन्म मरण का साक्षी है। जात कर्म और अंत्येष्टि में अग्नि का आधान होता है, पैदा हुए प्राणियों के जानने से इसका नाम "जातवेदा" है जन्म से पूर्व और मरण के पश्चात् जीव का अग्नि के। ही पता रहता है । इसी लिए देवदौत्य इसको मिला है। दूत के। सब का पता मालूम रहता है इसलिए कहा जाता है "हे अग्ने! जो पितर गाड़ दिये गए, जो वन में फेंके गये, जो जला दिये गये और जो सशरीर स्वर्ग को गए उन सब पितरों को श्राद्ध के समय यहाँ पहुँचाओ।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा
मध्ये दिवः स्वधया मादयंते
त्वं तान्वेत्थ यदि ते जातवेदः
स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषंताम् १८।२।३५

हे जातवेदः! जो अग्नि में जलाए गये और जो नहीं जलाए गए इन दोनों प्रकार के पितरों के। जो कि द्यु लोक के मध्य में हमारे दिये अन्न जल से आनन्द करते हैं यदि तू जानता है, तो तेरे द्वारा वे पितर स्वधिति अर्थात् पितृ सम्बन्धिनी स्वधा अर्थात् अन्न जल से युक्त हो। इत्यादि अनेक मंत्र इस विषय के वेद में विद्यमान हैं।

श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन का विधान

इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु
विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्
स मे माक्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो
विश्वरूपा धेनुः कामदुधा मे अस्तु ४।३४।८

ब्राह्मणभोजन के समय श्राद्ध करने वाला कहता है "इस ओदन (अन्न) को मैं ब्राह्मणों के समक्ष या ब्राह्मणों में रखता हूँ, यह विस्तृत है, लोकजित है और स्वर्ग में पहुँचने वाला है। जल के द्वारा बढ़ाया हुआ यह ओदन हमको अनन्त फल देने वाला हो। और कामधेनु के समान मुझको समस्त मनोवांछित फल दे। जल में अथवा दुग्ध में गेरा हुआ चावल भी "ओदन" कहाता है "ब्राह्मणेषु" यह पद मंत्र में स्वयं आया है।

यं ब्राह्मणे निदधे यंचविक्षु
या विप्रुष ओदनानामजस्य
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके
जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ६।५।१९

हे अग्ने! जो ओदन हमने ब्राह्मणों के समक्ष में परोसा है, जिसको यथाविभाग विभक्त किया, जो उसके बनाने में विन्दु उड़े उन सबको स्वर्गलोक में ले जाओ। जान २ कर हमारे पितरों को दो। मार्ग में सावधान होकर ले जावो। इन मंत्रों में ब्राह्मण-भोजन का उपपादन है।

पितरों का ब्राह्मणों में प्रावेश

निमंत्रितान्हि पितर उपतिष्ठंति तान्द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छंति तथासीनानुपासते ३।१८९॥

श्राद्ध में पितर निमंत्रित ब्राह्मणों के पास उपस्थित होते हैं। वायु के समान अदृश्य रूप से उनके चले जाने पर चले जाते हैं। बैठने पर बैठते हैं। पितर मनुष्यों से छिपे हुए रहते

हैं। इसीलिये "तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः" २।३।४।२१ ऐसा शतपथ में लिखा है।

अग्नि और ब्राह्मण की सहोदरता

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ३१।११

मुखादग्निरजायत ३१।१२

इन मन्त्रों में अग्नि और ब्राह्मण का सहोदरत्व प्रतिपादन किया है। दोनों ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए हैं, इसीलिये अन्य को छोड़कर केवल ब्राह्मणों को ही श्राद्ध में भोजन कराना लिखा है। अग्नि देवदूत है। उसमें अन्यदेवताओं का भाग केवल विश्वास पर दिया जाता है। इसी प्रकार वेद के ऊपर विश्वास करके श्राद्ध में ब्राह्मण को ही निमंत्रित किया जाता है क्योंकि ब्राह्मण ही पितृदूत है।

तं हि स्वयंभूः स्वादास्या-
त्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।
हव्यकव्याभिवाह्याय
सर्वस्यास्य च गुप्तये १।९४

स्वयंभू ब्रह्मा ने सृष्टि के आरंभ में तप करके देवताओं और पितरों को हव्य कव्य पहुँचाने के लिये अपने मुख से ब्राह्मण को उत्पन्न किया।

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥९५॥

जिसके मुखसे सर्वदा अनादि काल से देवता हव्य और पितर कव्य भोजन करते हैं उस ब्राह्मण से अधिक संसार में कोई उत्तम नहीं है।

अग्न्यभावेतु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
योह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मंत्रदर्शिभिरुच्यते ३।२१२

श्राद्ध समय में यदि अग्नि न मिले तो ब्राह्मण के हस्त में कव्य उपन्यस्त करे । क्योंकि ऋषियों (मंत्रद्रष्टाओं) ने अग्नि और ब्राह्मण में कोई अन्तर नहीं समझा है । यह स्वा० द० के कथनानुसार सृष्टि के आरम्भ में बनी हुई मनुःस्मृति के प्रमाण हैं।

ब्राह्मण की त्रिलोकगता

त्रयोलोकाः संमिता ब्राह्मणेन
द्यौरेवासौ पृथिव्यंतरिक्षम् १२।३।२०।

अथर्व वेद के इस मंत्र में ब्राह्मण की गति तीनों लोकों में अप्रतिहत बताई गई है। ब्राह्मण अग्नि का सहोदर भाई है, यह बात इसी प्रकरण में अन्यत्र लिखी गई है। ब्राह्मण भूदेव है, यह बात भी अथर्व वेद के (१०।६।१२) मंत्र में कही गई है। इसी कारण श्राद्ध में अन्य क्षत्रियादि को छोड़ कर ब्राह्मण को भोजन कराना वेदानुमोदित है। ब्राह्मण को खिलाया हुआ स्वर्गस्थ प्राणियों को आप्यायित करता है यह बात इसी प्रकरण में अन्यत्र कही गई है।

चन्द्रमा का ब्राह्मणों में आवेश

सोमश्चैषोब्राह्मणां आविवेश ।

अथर्ववेद की [१८।३।५५] इस श्रुति में चंद्रमा का अपनी किरणों द्वारा ब्राह्मणों में प्रवेश करना उपपन्न है। सोमसद् पितरों का नाम भी है इसी लिये (विराट्सुताः सोमसदः) ऐसा मनु में लिखा है। (सोमे चंद्रमसि सीदंति निषीदंतीति सोमसदः) दिव्ययोनि में और दिव्य लोक में रहने के कारण पितृगण मनुष्यों के दृष्टिपथ में नहीं आते हैं। दिव्य दृष्टि वाले ही उनका स्वरूप देख सकते हैं। दिव्य दृष्टि मनुष्य को भगवान की कृपा से प्राप्त होती है जैसे अर्जुन को हुई थी। जिस प्रकार विराट के देखने के लिये अर्जुन को दिव्य दृष्टि की आवश्यकता हुई उसी प्रकार पितृगणों के देखने के लिये भी मनुष्य को दिव्य दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये।

चन्द्रमा का पितरों से सम्बन्ध

त्वं सोम पितृभिः संविदानो
अनुद्यावापृथिवी आततन्थ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम
वयंस्याम पतयो रयीणाम् १९।५४

यजुर्वेद के इस मंत्र में चन्द्रमा का पितरों के साथ में संबंध बताया गया है। मंत्र का अर्थ यह है कि "हे सोम! तू पितरों से संबंध रखता हुआ द्युलोक और पृथिवी को भी आक्रांत कर रहा है। इसलिये त्रिलोकगामी तुझ चन्द्रमा को हवि देते हैं। हम धन के मालिक हों इसलिये"। इस मंत्र के द्वारा चन्द्रमा का संबन्ध पितरों से वेदानुमोदित है। चंद्रमा का अधोभाग पृथिवी से और ऊपर का भाग सूर्य से संबंध

रखता है। इसके ऊर्ध्व भाग में [विधूर्ध्वभागे पितरो वसंति] इस ज्योतिष के प्रमाण से पितृगण निवास करते हैं।

श्राद्ध में भोज्य पदार्थ

यं ते मंथं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
तेतेसंतुस्वधावंतोमधुमन्तोघृतश्च्युतः १८।४।४२

अथर्ववेद के इस मन्त्र में मंथ ओदन मांस इन तीनों का नाम आया है। फलाहारी फल से, अन्नाहारी अन्न से, मांसभोजी मांस से अपने अपने पितरों का श्राद्ध करते हैं। इसी लिये [यदन्नः पुरुषोलोके तदन्नास्तस्य देवताः] ऐसा लिखा है। मनुस्मृति में भी दोनों प्रकार का भोज्य वर्णित है। जो लोग इस बात का रहस्य नहीं जानते हैं वे वैदिकज्ञानशून्य हैं। जिन देशों में अन्न नहीं होता है वहाँ के मनुष्य मांस से ही श्राद्ध करते हैं। मांस की अपेक्षा से मुन्यन्न के द्वारा किया हुआ श्राद्ध अक्षय होता है ऐसा मनु कहते हैं। मैथिल, बंगाली, सारस्वत, उत्कल प्रायः मांसभोजी होते हैं। जो समाजी अपने पिता का श्राद्ध मांस से करना चाहें वे इनको बुलाकर खिलावें। स्वा० द० ने तो नरमांस तक का भक्षण स० प्र० में लिख दिया है।

भोज्यपदार्थविचार

संसार में सात्विक राजस तामस तीन प्रकार के प्राणी होते हैं। वे अपनी अपनी प्रकृति के अनुकूल तीन प्रकार के भोजन भी एकत्र करते हैं। सत्व गुण वाले कंद मूल फल गोदुग्ध गोघृत मिष्ट इनको खाते हैं। रजोगुण वाले कड़ुवे

तीखे रूखे गरम पदार्थ खाते हैं। तमोगुण वाले यातयाम गत-रस दुर्गंध युक्त धसे हुए झूठे अमेध्य पदार्थ खाते हैं, ऐसा गीता में लिखा है। मांस दुर्गंध युक्त होने के कारण तमोगुण प्रधान भोजन है। इसीलिए दैव पित्र्य कार्य में सात्विकजन उसका उपयोग नहीं करते हैं। रजोगुणी और तमोगुणी प्रायः प्रतिदिन ही मांस खाते हैं। वे यदि श्राद्ध में मांस खिलावें तो आश्चर्य ही क्या है।

दयानन्दियों की दलील

दयानन्दी कहते हैं कि—"जो पिण्ड पितरों को दिये गये उनमें खाने के बाद वज़न कुछ कम होना चाहिये" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पितृगण दिव्ययोनि में हैं। उनको नियमानुसार अन्न का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही मिलता है। जो तौलने पर भी मालूम नहीं होता। उदाहरणार्थ जैसे पुष्पों का गंध। वायु में गंध जाने पर भी वज़न में फूल कितना कम हुआ है यह नहीं बताया जा सकता है परन्तु सौरभ जाता अवश्य है। इसी प्रकार सूर्य के किरणों द्वारा जो पदार्थ सूक्ष्म होकर लोकान्तर को जाता है उसका तोलना केवल अनुमान-वेद्य ही है। अभी तक उसके तराजू-बाट नहीं बने हैं। जिस प्रकार गर्भगत जीव को अन्न का स्थूल भाग नहीं मिलता है उसी प्रकार सूक्ष्म जीव को भी अन्न का स्थूल भाग देना असंभव है।

रामायण में श्राद्ध

ततो दशाहेतिगते कृतशौचो नृपात्मजः।
द्वादशेऽह्नि संप्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥१॥

-यह पद्य वाल्मीकि० अयोध्या० सर्ग ७७ का है। इसमें दश दिन के बाद बारहवें दिन में भरत ने दशरथ का श्राद्ध कर्म किया। यह प्रत्यक्ष है। इसी कांड के १०२ सर्ग में चित्रकूट पर रामचन्द्र के किये पितृ श्राद्ध का वर्णन भी है, जो विद्वानों को देखना चाहिये।

महाभारत में श्राद्ध

भीष्म पितामह ने जब अपने श्री पिताजी का श्राद्ध किया उस समय पिता जी का हाथ पिण्ड लेने के लिए उपस्थित हुआ था। परन्तु भीष्म ने शास्त्रदृष्टविधान से उनके हाथों में पिण्ड न देकर कुशों के ऊपर ही रख दिया था। यह कथा महाभारत में अति प्रसिद्ध है।

नास्तिकता का फल

ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध जिन्होंने वेदों की संगति लगाई उनका अंत में क्या परिणाम हुआ यह देखना चाहिये। दयानन्द की स्वर्गारोहण वैजयन्ती "नन्ही जान" हुई। लेखराम का यवन ने घात किया। गुरुदत्त क्षय में क्षीण हुए। श्राद्ध-निर्णय-संपादक शिवशंकर कुष्ठ से पीड़ित हो रहे हैं। जिनको प्रत्यक्ष देखना हो वह जाकर देख ले! इनकी दुर्दशा का अनुमान करके प्रत्येक मनुष्य को आस्तिक होना चाहिये। वेद को अपने पीछे न चला कर स्वयं वेद के पीछे चलना चाहिये। यही धर्म है। इसी में कल्याण है।

वैश्वदेव

१०२ पृष्ठ में मनुस्मृति का ३। ८४ श्लोक लिख कर उस में लिखे "आभ्यः देवताभ्यः" के अनुसार जो नीचे मंत्र दिये

हैं उन में धन्वन्तरि और कुहू (अमावास्या) को भी देवताओं में माना है। निरुक्त में कुहू अमावास्या का नाम है। क्या समाजी आज से इन दो नवीन मनुप्रोक्त देवताओं को मानेंगे ?

दिग्भाग

१०३ पृष्ठ में स्वा० द० ने—दिशाओं के अधिपति, इन्द्र, यम, वरुण, सोम, मरुत्, अप्, वृक्ष, लक्ष्मी, भद्रकाली, दिन के भूत और रात्रि के भूतों को भी एक एक ग्रास रखना लिखा है। समाजियो! अब तुम क्या करोगे ? जल्दी कहो ! पहिले तो तुम इन मंत्रों को जो कि भागनिकालने के हैं वेद में दिखावो ? और फिर इन सब देवताओं का पूजन करो। रामकृष्ण के समक्ष तो तुम्हारा सिर नहीं झुकता, अब ओखली मूसल को पूजो। उनको प्रणाम करो और दिन रात भूतों को मान मान कर उनके नाम का भाग अलग धरो। तुम तो मरे को भूत कहते थे, और किसी भूत को मानते हो नहीं थे। अब ये "दिवाचर भूत नक्तंचारी भूत" तुम्हारे पीछे कहाँ से लग गये। भागो! दौड़ो! जान बचाओ! नहीं तो अथर्ववेद के ये भयंकर भूत मार कर प्राण ले लेंगे।

रण्डसण्डप्रकरण

पतिहीना च या नारी पत्नीहीनश्च यः पुमान्
उभाभ्यां रण्डसण्डाभ्यां दयानन्दमतस्थितिः ।

११४ पृष्ठ में स्वा० द० लिखते हैं कि "स्त्री और पुरुष के बहुत विवाह होने योग्य हैं या नहीं (उत्तर)

"युगपत् न"

अर्थात् एक समय में नहीं (प्रश्न) क्या समयांतर में अनेक विवाह होने चाहियें (उत्तर) हाँ ! हम समाजियों से पूछेंगे कि "युगपत न" यह मंत्र किस वेद का है ? वास्तव में यह बात वेदविरुद्ध है क्योंकि—

जनीरिव पतिरेकः समानः ७ । २६ । ३

यथा सपत्नीं बाधते ३ । १८ । १

कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः ३० । ५

परिष्वजंते जनयो यथा पतिम् ४३ । १

इन मंत्रों में एक पुरुष के लिए एक साथ अनेक स्त्रियों का विधान मिलता है। मंत्रों में "पतिरेकः मर्यः पतिम्" यह एकवचनान्त शब्द पुरुष के लिए और "जनीः युवतिभिः, जनयः" ये बहुवचनान्त शब्द स्त्री के लिए हैं। इस लिए एक पुरुष एक साथ अनेक स्त्रियाँ रख सकता है, बिना उसके "सपत्नी भाव" भी नहीं होता है, परन्तु एक कन्या का एक बार ही विवाह होता है फिर उसका दूसरा विवाह वेद और धर्मशास्त्र के विरुद्ध है। यही समस्त धर्मशास्त्रकारों की अनुमति है। हम प्रत्यक्षमें इस बात को देखते हैं कि एक पुरुष एक दिन में १० स्त्रियों में गर्भ धारण कर सकता है परन्तु एक स्त्री एक दिन में दश पुरुषों से दस गर्भ नहीं रख सकती है। अतएव एक स्त्री के लिए अनेक पुरुषसंसर्ग का जो प्रतिपादन करते हैं वे ग़लती पर हैं।

जोड़ा काट दिया

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ९ । १७५

साचेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति १७६

मनु के यह दोनों पद्य "युग्म" हैं। इन दोनों का मिल कर ही अर्थ होता है। इन में "या-सा" का नित्य संबन्ध है। और अर्थ इन का यह है कि "जो स्त्री पति ने किसी कारण छोड़ी हो या विधवा हो गई हो वह किसी के घर "धरेलिया" हो कर के जिस पुत्र या पुत्री को पैदा करे उसको पौनर्भव या पौनर्भवी कहते हैं (१७५) उस पौनर्भवी हराम से पैदा हुई कन्या का अक्षतयोनि या क्षतयोनि होने पर उसी प्रकार के पौनर्भव हरामी लड़के के साथ ही सम्बन्ध होगा अन्य शुद्ध कुलज लड़के से नहीं (१७६) इन दोनों पद्यों में हरामी औलाद का वर्णन है। स्वा० द० ने इन में से एक को अलग करके सब को हरामी बनने का जो आदेश किया है वह शोचनीय है।

नियोग अवैदिक है

इस बात को सभी विद्वान मानते हैं। चारों वेदों में न इस का वर्णन है, न नियोग शब्द है, कहीं कहीं इतिहास में इसका वर्णन मिलता है (इति-ह-आस) इस निर्वचन से भली बुरी जो जो बातें हुई हों उन का वर्णन करना इतिहास का कर्तव्य है। इतने से ऐतिहासिक बातें आचरणीय हों यह सिद्ध नहीं होता है। इतिहास में चोरी का, व्यभिचार का, द्यूत का, परस्त्रीहरण का भी इतिवृत्त है इतिहास में आने मात्र से उनकी कर्तव्यता प्राप्त नहीं होती है। इसी लिए इस नियोग को मनु ने ९। ६६ पद्य में "पशुधर्म" कहा है।

आर्यसमाज का इतिहास

यह ग्रन्थ पं० नरदेव जी ने लिखा है। इसके ८३ पृष्ठ में नियोग का वर्णन करते हुये वह लिखते हैं कि "इस सिद्धांत

पर बहुत कुछ विचार हो सकता है। मनुस्मृति में धर्म जानने के जो चार मार्ग बतलाये हैं उन में से किस के आधार पर इस सिद्धांत की स्थिति है?" पृष्ठ ८४ में यही लिखते हैं कि "चारों वेदों में एक भी ऐसा मंत्र नहीं जिसमें स्पष्ट रीति से इस का प्रतिपादन किया हो। "कुहस्विद्दोषा कुहय-स्तोरश्विना" ऋ० १० । ४० । २ । १० । १८ । ८ इत्यादि इस मंत्र में "विधवेव देवरम्" ऐसा आया है। परन्तु यह नियोग-प्रतिपादक नहीं हो सकता। यह केवल मृत पति का स्त्री के विषय में है।...इस लिए हम तो यह स्पष्ट कह सकते हैं कि वेद इस सिद्धान्त का पोषक नहीं...यह आपत्कालिक सिद्धांत है। नीच जातियों में यह प्रथा किसी न किसी रूप में अब भी है" स्वा० द० ने ११७ पृष्ठ में इसको "आपत्काल" के लिए मान कर भी ११६ पृष्ठ में "वेदशास्त्रोक्त" कहा है। वास्तव में यह उनकी मूर्खता है। नियोग न वैदिक है और न धर्मरूप से धर्मशास्त्रप्रतिपादित है।

पतिमेकादशं कृधि १०।८५।४५

हस्तग्राभस्य दिधिषोः १०।१८।८

इन दो मंत्रों में "एकादश" और "दिधिषोः" यह दो पद विचारणीय हैं। उनमें दिधिषोः का अर्थ सायणाचार्य ने "गर्भस्य निधातुः" किया है, जो उपयुक्त है परन्तु स्वा० द० ने स० प्र० के ११६ पृष्ठ में [विधवा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के संबंध के लिये] इतना लंबा चौड़ा अर्थ किया है जो सर्वथा असंगत है। "एकादश" यह पद पूरणप्रत्ययांत है इससे एक स्त्री के लिये १० पुत्र और ग्यारहवां पति पर्याप्त कुटुम्ब है, यही अर्थ निकलता है। परन्तु स्वा० द० ने

इसके विरुद्ध १२० पृष्ठ में "ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं," यह अर्थ किया है। और नवम संस्करण की संस्कार विधि के १३१ पृष्ठ में भी इसी प्रकार ११ खसम कराने वाला अर्थ किया है जो वैदिकप्रक्रिया से विरुद्ध है।

विधवेव देवरम् १०।४०।२

वीरसूर्देवकामा १४।२।१८

इन दो मंत्रों में (विधवा देवर देव) यह तीन शब्द विचारणीय हैं। निरुक्त में "विधवा विगतधवा" यह नै० अ० ३में कहा है। हिन्दू धर्ममर्यादाके अनुसार वाग्दान(सगाई) होने पर पतिपत्नी भाव होजाता है। जिसके साथ वाग्दान हुआ है उसके मरने पर उसके सहोदर दूसरे भाई से उसी कन्या का संबंध—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ८।६९

मनु के इस प्रमाण से होता है। परन्तु स्वा० द० ने ११६ पृष्ठ में इस पद्य का पूर्वार्ध छोड़कर केवल आधे पद्य का अर्थ किया है जो सर्वथा प्रकरणविरुद्ध है।

श्लोक का अर्थ इस प्रकार है। जिस कन्या का वाग्दान होने पर सगाई के पश्चात् पति, जिसके साथ वाग्दान होगया है और अभी तक विवाह सप्तपद्यंत नहीं हुआ है मर जावे तो इसी विधान से "निजोदेवरः" उसका सहोदर छोटा भाई जिसको देवर कहते हैं उस कन्या को प्राप्त कर सकता है। 'देवर पति का सगा दूसरा वर' यह अर्थ मनु के अनुकूल है। विधवा वाग्दत्तपति के मरने पर औपचारिक है। जिस

प्रकार सप्तपद्यन्त विवाह से पूर्व भी केवल वाग्दान मात्र से पतित्व है उसी प्रकार वाग्दत्त पति के मरने पर औपचारिक कन्या का विधवात्व है। यह हिन्दू धर्म का मर्म है। इसको न समझ कर जो ऊट पटांग स्वा० द० ने बका है वह उन्मत्त-प्रलाप के समान है।

देवरो दीव्यतिकर्मा ३।३।३

देवरः कस्मात् द्वितीयोवर उच्यते ३।३।३

"देवा देवस्तु देवरः" इस कोषप्रमाण से देव देवर एकार्थक हैं। दुर्गाचार्य ने देवर का अर्थ "सहिभर्तुर्भ्राता" इस प्रकार किया है जो उपयुक्त है। स्वा०द० ने विधवा से रंडामात्र और देवर से मनुष्य मात्र का जो ग्रहण किया है वह सर्वथा शोचनीय है।

आधाताबच्छानुत्तरायुगानि
यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उपवर्बृहि वृषभाय बाहु-
मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् १०।१०

इस मंत्र में भाई बहिन से कहता है कि "हे सुभगे आवेंगे संसार में वे अनुत्तर अंतिम युग जिनमें कुलवती कन्या अकुलीन कन्योचित कार्य करेंगी परन्तु अभी वह समय दूर है। मुझ सगे भाई को छोड़कर तू अन्य वर के साथ विवाह कर" यह मंत्र का अर्थ है। इस मंत्र के चतुर्थपाद मात्र का स्वा०द० ने जो अर्थ१२१पृष्ठ में किया है और उसमें भी जो पति के जीते जी अन्य पुरुषों से नियोग कराया है वह प्रसंगविरुद्ध है।

वेद में यह प्रकरण भाई बहिन के विवाहनिषेधमें है। नियोग का इसमें गंध तक नहीं है।

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ८।७६

स्त्री अपने प्रोषित पति की प्रतीक्षा करे। कब तक ? धर्मार्थ गए की आठ वर्ष, विद्या और यश के अर्थ गए की छै वर्ष, धन की कामना से गए की तीन वर्ष। (फिर क्या करे) इसका उत्तर—

अतऊर्ध्वं पंचभ्योवर्षेभ्यो भर्तृ सकाशं गच्छेत् १७।६७

इस प्रकार वसिष्ठ स्मृति में दिया है। परन्तु स्वा० द० ने १२१ पृष्ठ में "पश्चात् नियोग करके संतानोत्पत्ति करले" यह अर्थ किया है जो मूल पद्य के किसी पद का न होने से अमान्य है।

विचित्र नियोग

१२३ पृष्ठ में स्वा० द० ने लिखा है कि "गर्भवती स्त्री से एक वर्ष...न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे" यह लेख बड़ा ही विचित्र है। जिस स्त्री के गर्भ में एक बालक विद्यमान हो वह आग उठने पर दूसरे से हराम करावे और उसका भी वीर्य अपने गर्भ में रख कर उसके लिये भी एक लड़का पैदा कर दे, यह बात असंभव है। समाजी इसको संभव मान कर (उतथ्य और ममता) के संवाद पर मज़ाक उड़ाते हैं परन्तु उचित यही है कि पहिले समाजी अपना घर देखलें तब दूसरे पर आक्षेप करें।

समाजियों से प्रश्न

(१) समाज ने स्वा० द० की आज्ञा के उद्धारार्थ "नियोग आफिस" कहां कहां खोले हैं ? (२) समाज के किस किस लीडर ने इस आज्ञा का पालन किया है ? (३) नियोग से पैदा हुए बच्चों का रजिष्टर कहां मिलता है ? (४) अब तक नियोगी लड़कों की संख्या कहां तक पहुँची है ? (५) प्रतिनिधि ने कुछ इसका प्रबंध किया या नहीं ? इन बातों का उत्तर समाचार पत्रों द्वारा शीघ्र मिलना चाहिये ? नहीं तो दयानन्द की यह गंदी आज्ञा गंदी नालियों में बह कर भूत दयानन्द तक पहुँचेगी ।

पंचमसमुल्लासालोचन

इसमें १५ पृष्ठ हैं, नाम मात्र के लिए १ मंत्र है, २ शतपथ के और २ यजुर्वेद ब्राह्मण के मंत्र हैं, ८ उपनिषदों के वाक्य हैं, २७ मनु के पूरे और एक अधूरा श्लोक है, २ चाणक्यनीति के पद्य हैं। कुल, मसाला इतना है। इसमें जो प्रमाण दिये हैं वे सब साक्षिभूति हैं इस लिए विज्ञापन के अनुसार स्वा० द० के सिद्धान्त नहीं माने जा सकते हैं। निम्न लिखित बातें इसमें आलोचनीय हैं।

वानप्रस्थाश्रम

स्वा० द० ने इसकी वैदिकता में कोई प्रमाणभूत मंत्र नहीं दिया है। जिस मंत्र का देवता (प्रतिपादनीय विषय) वानप्रस्थ हो ऐसा मंत्र भाग में कोई मंत्र नहीं है। वानप्रस्थ शब्द भी वेद में नहीं है। इस लिए जो समाजी केवल मंत्र भाग को वेद मान कर ब्राह्मणादि ग्रंथों को अवैदिक मानते हैं वे इस आश्रम की वैदिकता सिद्ध करें।

अजोनाकमाक्रमतांतृतीयम्। ५५ १

संस्कार विधि के २३० पृष्ठ में अथर्व का यह मंत्र देकर स्वा० द० ने इसको वैदिक सिद्ध करने की चेष्टा की है जो निष्फल है। क्योंकि इस मंत्र में अज (बकरे) को यज्ञद्वारा स्वर्ग जाने के लिए कथन किया गया है, इसी लिए मंत्र में नाक शब्द स्वर्गवाचक आया है। स्वा० द० को इतना भी ज्ञान नहीं था। हम इसको स्मार्त और शतपथ के आधार पर वैदिक भी मानते हैं।

संन्यासाश्रम

इसके भी वैदिक होने में स्वा० द० ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। क्योंकि मंत्र भाग में "संन्यास" जिसका देवता हो ऐसा कोई मंत्र नहीं है। न वेद में संन्यास शब्द है। इस लिए ब्राह्मण भाग के विना आश्रय लिए समाजी इसको आजन्म वैदिक सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

१२८ पृष्ठ में स्वा० द० ने "यतयः ब्राह्मणस्य विजानतः" इन तीन पदों से इस आश्रम को वैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है जो व्यर्थ है। क्योंकि (यतयः) का अर्थ (यतात्मानः) होता है। यतात्मा सभी हो सकते हैं। ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है, आश्रमवाचक नहीं। किसी कोषकार ने इसको आश्रमवाचक नहीं लिखा है। १२६ पृष्ठ में स्वा० द० ने जो ब्राह्मण का अर्थ संन्यासी किया है वह प्रमाणशून्य होने से अशुद्ध है। (प्रजानन्) यह पद विशिष्ट ज्ञान वाले का बोधक है। संन्यास का नहीं। इस लिए इन पदों से संन्यास सिद्ध करना केवल मूर्खता का परिचय देना है। संस्कारविधि के, २४० पृष्ठ, में "यद्देवायतयः १० । ७२ । ७" यह जो मंत्र दिया है उसका देवता "देव" है जो अदिति का पुत्र है सन्यास नहीं। इसी लिए इस समग्र सूक्त में इसके आगे पीछे के मत्रों द्वारा अदितिपुत्रों का वर्णन मिलता है।

ब्राह्मणो निर्वेदमायात् । मु० २ । १२

ब्राह्मणः प्रव्रजेत् य० ब्रा०

ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ६ । ३८

ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ६ । ८७

स्मृति के इन प्रमाणों से ब्राह्मणजाति समुद्भव पुरुष को इस आश्रम में आने की आज्ञा है, और यही बात १३५ पृष्ठ में स्वा० द० ने लिखी भी है। परन्तु वर्तमान समय में आर्य्यसमाज में जितने संन्यासी हैं वे प्रायः खत्री, कायस्थ, जाट, गूजर सुनार, लुहार, डोम, खटीक, आदि जातियों के हैं जो इस जन्म में क्या जन्मांतर में भी ब्राह्मण नहीं बन सकते हैं। क्षत्रियादिको इसमें आने का अधिकार नहीं है। आर्यसमाज इसका उत्तर अपने पास कुछ नहीं रखता है।

बनावटी श्लोक

धनानितुयथाशक्तिविप्रेषुप्रतिपादयेत्
वेदवित्सुविविक्तेषुप्रेत्यस्वर्गंसमश्नुते ११।६

मनुस्मृति में यह पाठ है, धन के लोभ से स्वा० द० ने १३८ पृष्ठ में इसको बदल कर "विविधानिचरत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्" यह बनावटी श्लोक गढ़कर धर दिया है। और (विविक्त) का अर्थ संन्यासी किया है जो प्रसंग विरुद्ध है। प्रकरण में (विविक्तेषु) का अर्थ (पुत्रकलत्राद्यवसक्तेषु) है। स्वा० द० की इस चालाकी से समाजी सर्वत्र मुंहकी खाते हैं

षष्ठ समुल्लासालोचन

इसमें ४४ पृष्ठ हैं। उनमें २ मंत्र पूरे और ४ मंत्र आधे हैं, १ प्रमाण शतपथ ब्राह्मण का है और १८८॥ पद्य मनुस्मृति के हैं। यह समुल्लास एक प्रकार से मनु के आधार पर है। समाज को चाहिये कि इन सब बातों को जो कि मनु के आधार पर कही गई हैं वेदानुकूल सिद्ध करें। निम्नलिखित बातें इसमें विचारणीय हैं।

मन्त्र के अर्थ में गड़बड़

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय
महते ज्यैष्ठ्याय जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय
इममुष्य पुत्रममुष्यै विश एष वोऽमी—
राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ९।४०

यजुर्वेद में यह मंत्र इतना है। दयानन्द ने इसको अंगहीन कर दिया है। इसमें राजगद्दी पर बैठने के समय ब्राह्मण राजा को जो आशीर्वाद देते हैं उसका वर्णन है, मंत्रार्थ इस प्रकार है। हे देवताओ! इस राजाको शत्रुरहित बनाओ, इसकी क्षत्र शक्ति बढ़ाओ इसको प्रजा में ज्येष्ठ करो "जनराज्य-मेवेदं जानराज्यम्" प्रजावर्ग पर इसका अधिकार कराओ, इन्द्र की संपत्ति का अधिपति बनाओ इसको और इसके पुत्र

को भी ऐसा ही करो "इतना राजा की तरफ कहकर अब ब्राह्मण प्रजावर्ग को सूचित करते हैं" अमी हे विशः ! प्रत्यक्ष में वर्तमान हे प्रजावर्गो ! [एष वः राजा] यह तुम्हारा राजा है तुम इसकी प्रजा हो, परन्तु हम ब्राह्मणों का राजा सोम-चंद्रमा है। इसका आधिपत्य आप लोगों पर है हमारे ऊपर नहीं। हमारे ऊपर केवल सोम का आधिपत्य है यही मंत्रार्थ है। दयानन्द ने स. प्र. के १४३ पृष्ठ पर जो इनका अर्थ किया है वह अशुद्ध है।

इंद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ७।४

१४३ पृष्ठ में यह पद्य है। दयानन्द ने इनका अर्थ किस प्रकार बिगाड़ा है यह देखने योग्य हैं और यही समस्त दयानन्द के किये अर्थों का नमूना है। इसीसे अनुमान करना चाहिये कि दयानन्द मनु के श्लोकों का किस प्रकार अर्थ बदलते हैं। मनु ने इस पद्य के द्वारा राजा के शरीर में किन किन देवताओं का अंश है यह बताया है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है "इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, कुबेर इन आठ देवताओं को नित्य मात्राओं [अंश] से राजा का शरीर बनता है इसलिये राजा अष्ट दिक्पालों की शक्ति का एक पुंज है।

यस्मादेषां सुरेंद्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ७।५

जिस लिये यह राजा अष्टदिक्पालों की मात्राओं [अंश] से बनता है इसीलिये यह अपने पराक्रम से समस्त प्रजावर्ग पर अपना अधिकार कर लेता है। इस पद्य का पहिले पद्य के

साथ में संबन्ध है। स्वा० द० ने इसको जान बूझ कर छोड़ दिया है। जिससे अष्ट दिक्पाल सिद्ध न हों। परन्तु विचार करने पर यह बात छिपती नहीं है।

पक्षपात इसी को कहते हैं

स्वामी दयानन्द को जो पुरुष पक्षपात शून्य मानते हैं वे उनके पक्षपात से अभी परिचित नहीं हैं। देखिये १७७ पृष्ठ में "यंन्यचम्येद्द्विजोत्तमः" इस पद्य का व्याख्यान करते हुए द्विजोत्तम का अर्थ (संन्यासी) कर दिया है यह पक्षपात नही तो और क्या है ? "द्विजेषुक्षत्रियादिषु उत्तमः पूज्यो द्विजोत्तमः" द्विजोत्तम शब्द ब्राह्मणजाति का वाचक है यह सभी विद्वान जानते हैं। किसी भी कोपकारने द्विजोत्तम शब्द संन्यास वाचक नहीं लिखा है। उसके विरुद्ध १२७ पृष्ठ में "जब ब्राह्मण वेद विरुद्ध आचरण करे तब उसका नियंता संन्यासी होता है" इस स्थल पर ब्राह्मण का अर्थ संन्यासी नहीं किया यह सरासर पक्षपात नहीं तो और क्या है ?

जन्मसे वर्णव्यवस्था मानली

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ७।७७

राजा दुर्ग बनाकर उसमें रहता हुआ अपने समान (वर्ण) जाति वाली अच्छे लक्षण युक्त उच्चकुल में पैदा हुई मनोहर रूपादि गुणों से युक्त कन्या से विवाह करे यह इसका अर्थ है। इसका १५२ पृष्ठ में व्याख्यान करते हुए स्वा० द० ने क्षत्रिय का विवाह "अपने क्षत्रियकुल की कन्या" से कराया" गुण कर्म का ढकोसला यहां उड़ गया "जादू वो जो शिर पर चढ़ के बोले"

विचित्र जाल

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्-नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ८।७९

राज सभा में यदि कोई साक्षी देखे सुने के अतिरिक्त कुछ कहता है तो गूंगा होकर नरक जाता है मरने के बाद स्वर्गलोक से नष्ट होता है यह इसका अर्थ है। १७६ पृष्ठ में स्वा० द० ने इसके अर्थ में जाल बनाया है "अवाक्—नरक" इन दो पदों को एक बनाकर "जिव्हाच्छेदन रूप नरक" अर्थ किया है "जिससे स्वर्ग नरक लोकांतर सिद्ध न हों" इस छल का परिणाम काशी के शास्त्रार्थ में जब दयानन्द स्वयं "अवाक्" हुए तब मिल गया।
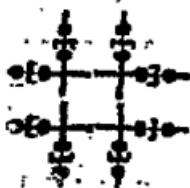
सप्तमसमुल्लासालोचन

इसमें ३२ पृष्ठ हैं १७ पूरे और दो मंत्र आधे हैं। २ प्रमाणशतपथ ब्राह्मण के हैं १३ दर्शनों के सूत्र हैं और १ सूत्र अष्टाध्यायीका है। २ प्रमाणनिरुक्त के हैं। १ सूत्र कात्यायन कृत प्रतिज्ञा सूत्र का है। ४ महावाक्य हैं। १३ उपनिषदों के छोटे छोटे टुकड़े हैं। १ श्लोक गीता का और १ मनुका है। २ कारिका है। कुलमसाला इतना है। इसमें निम्नलिखित बातें आलोचनीय हैं।

धोखा दिया

त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशताः षट्सहस्राः
सर्वान्स देवांस्तपसा पिपर्ति ११।५।२

अथर्ववेदका यह मंत्र १८६ पृष्ठ में "त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः" इतना दिया है। परन्तु अर्थ में इसी मंत्र से ३३ देवता सिद्ध किये हैं। वास्तव में इस मंत्र के अन्दर ६३३३ देवता हैं। इस वेद का ब्राह्मण गोपथ है शतपथ नहीं। शतपथ यजुर्वेद का ब्राह्मण है। यजुर्वेद में यह मंत्र ही नहीं है। शतपथ की व्याख्या यजुर्वेद के मंत्र पर होनी चाहिये न कि अथर्ववेद के मंत्र पर। अब तक तो स्वा० द० के मत में शतपथ परतः प्रमाण था आज अथर्ववेद पर जाल बनाने के लिये स्वतः प्रमाण बन गया—यह कितना बड़ा अन्याय है। किसी वेद का

मंत्र किसी वेद का ब्राह्मण ? यदि इस समय राम राज्य होता तो दयानन्द का हस्तच्छेदन करा दिया जाता क्योंकि यह जाल वेद पर बनाया गया है।

ईश्वर की सर्वव्यापकता

(प्रश्न) ईश्वर व्यापक है वा किसी देश विशेष में रहता है (उत्तर) व्यापक है क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी ..नहीं हो सकता है। पृ० १८८। व्याप्य अल्पदेशवृत्ति होता है और व्यापक बहुदेशवृत्ति होता है।

पादोस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्यामृतं दिवि ३।१।३

इस मंत्र में ईश्वर को "दिवि" पद से द्युलोकस्थायी माना है और "स्वर्यस्य च केवलं" इस अथर्व के मंत्र में ईश्वर का स्थान (स्वः) स्वर्लोक माना है तब ईश्वर देश विशेष में रहा या नहीं ? रहा व्यापकता का प्रश्न, उसके लिये कई बातें हैं। अग्नि सर्वत्र व्यापक होने पर भी देश विशेष में प्रकट होता है। बिजली सर्वत्र विद्यमान होने पर भी देश विशेष में प्रकाश करती है। एतावता उसकी व्यापकता में कोई बाधा नहीं आती है। द्युलोक पृथिवी लोक से अधिक देश वृत्ति है उसका पृथिवी मात्र के पदार्थों में व्यापक होना नियम सिद्ध है। इस लिये यह स्वा० द० की बात नितांत शोचनीय है।

साकार और निराकार

(प्रश्न) ईश्वर साकार है वा निराकार (उत्तर) निराकार है,,...जो साकार होता तो उसके नाक कान आंख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिये...पृ० १८६

वाहरे मतिमंद दयानन्द! क्या कहना है तुझको भी वाजे समय दूर की सूझ जाती है। ईश्वर की आंख का बनाने हारा दूसरा मानकर उसके अवयव ही नहीं माने चलो सफाया हुआ "अड्ड" ही उड़ा दिया अब मक्खी बैठेगी कहां" मगर वेद के ऊपर ध्यान न गया, जाता भी कहां से जब गुरू ही धृतराष्ट्र थे। वेद में ईश्वर को "स्वयंभू" कहा है। उसके सभी अवयव स्वेच्छानिर्मित हैं, वह अपनी इच्छा से सर्वशक्तिमान होने के कारण सब कुछ कर सकता है। "लोकवत्तुलीला कैवल्यम्" इस वेदान्त सूत्र के प्रमाण से वह लीलानिर्मितविग्रह स्वेच्छाकल्पित शरीर हैं। जिस प्रकार लीला से समस्त जगत को बनाता है उसी प्रकार अपना शरीर बनाने में उसको क्या अड़चन लगती है। वह स्वेच्छा से अपना शरीर भी बना लेता है। रही अवयवों की बात उसके लिये वेदविद्यमान हैं देखिये।

चन्द्रमामनसोजातश्चक्षोः सूर्यो अजायत
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत
नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकांअकल्पयन्

यजुर्वेद के इन दो मंत्रों में ईश्वर के मन, चक्षु, श्रोत्र, मुख, नाभि, शिर, चरण, इन अवयवों का वर्णन है। यदि इनको अलंकार (फर्जी) माना जावे तो नास्तिकता आ जाती है क्योंकि वेद में कोई बात [फर्जी] झूंठ नहीं कही गई है। जहां ईश्वर की मूर्ति का वर्णन किया गया है वहां सब अङ्ग प्रत्यङ्ग लिखे हैं। जहां उसका अमूर्त वर्णन है वहां वैसी ही

सामग्री एकत्र कर दी गई है। देखिये—[द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च। तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोरंतरिक्षाच्च] बृहदारण्यक के इस प्रमाण से ईश्वर साकार और निराकार दोनों प्रकार का माना जाता है। पृथिवी, जल, तेज ईश्वर के साकार रूप हैं और वायु तथा आकाश यह निराकार रूप हैं। इन पांच प्रकार के भेदों से ईश्वर दोनों प्रकार का सिद्ध हो जाता है [उभयं वा एतत्प्रजापतिः निरुक्तश्च अनिरुक्तश्च परिमितश्च अपरिमितश्च] शतपथ ब्राह्मण के इस प्रमाण से ईश्वर परिमित परिछिन्न सावयव और अपरिमित अपरिच्छिन्न निरवयव दोनों प्रकार का माना गया है। [आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविधः १ एकं रूपं बहुधा यः करोति २] उपनिषद के इन प्रमाणों से आत्मा ईश्वर पहिले "पुरुषविध" मनुष्य के आकार वाला था। इसी लिए यजुर्वेद में एक सूक्त का नाम ही पुरुष सूक्त है। जिस में ईश्वर का पुरुष स्वरूप से वर्णन है। एक रूप को उसने अनेक प्रकार का किया इन सब प्रमाणों से ईश्वर साकार और निराकार दोनों प्रकार का सिद्ध है।

एक मन्त्र में दोनों बातें

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण—
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ४०। ८

१६० पृष्ठ में यह मंत्र है। इसमें ईश्वर के ११ विशेषण हैं। उन से ईश्वरकी साकारता और निराकारता दोनों सिद्ध होती हैं। "स्वयंभूः" पद लीलानिर्मितविग्रहवत्ता का

बोधक है और "अकायम्" पद लिंग शरीरराहित्य का द्योतक है "अव्रणमस्नाविरं" यह दो विशेषण स्थूल शरीर राहित्य के सूचक हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर का शरीर किसी कारण से नहीं किन्तु निष्कारण है। इसी लिए स्वेच्छा कल्पित है।

रीढ़ की हड्डी में ईश्वर का ध्यान

१६६ पृष्ट में स्वामी जी लिखते हैं कि "जब उपासना करना चाहैं तब...मन को नाभिप्रदेश में वा हृदय, कंठ, नेत्र, शिखा, अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर... संयमी होवे।... जो आठ प्रहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है, यह लेख है। आप इसमें ...का नाम लिखना भूल गए। उस का नाम भी अगर कंपोजीटरों की गलती से छप जाता तो फिर क्या था? स्वामी जी! हम आप से पूंछते हैं कि आपने कितने दिन तक रीढ़ की हड्डी में ध्यान लगाया? जब से समाज स्थापित हुआ तब से कितने मनुष्यों ने रीढ़ की हड्डी में ध्यान लगाया? उनकी क्या उन्नति हुई?

वेद में अवतारवाद

[प्रश्न] ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं? (उत्तर) नहीं क्योंकि "अजएकपात्" इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता। १६६, यह स्वा० द० का लेख है। मालूम होता है कि यहां पर स्वा० द० की बुद्धि कहीं अन्यत्र चली गई है। क्योंकि जो अज है वह "एक पात्" एक पैर वाला कैसे बनेगा? बिना जन्म के पैर कहां! [खूब मुंह की खाई] ईश्वर के समान जीव भी अज है फिर उसका जन्म क्यों? प्रकृति भी अजा है उसका जन्म क्यों?

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् ४ । ५

अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणः १ । २ । १८

यह दोनों प्रमाण उपनिषदों के हैं। इन में प्रकृति और जीव को अजा और अज कहा है। इसी प्रकार ईश्वरभी अज है परंतु भेद इतना है कि जीव और प्रकृति कारण से जन्म लेते हैं। ईश्वर "स्वयंभू" है। जीव का जन्म सर्वत्र प्रसिद्ध है। प्रकृति का "आत्मनआकाशः संभूतः" इत्यादि प्रमाणों से सम्भवन [पैदा होना] सिद्ध है। अब हम उन प्रमाणों को उपस्थित करते हैं जिन में अज ईश्वर का जन्म प्रत्यक्ष में उपलब्ध होता है।

एषोह देवः प्रदिशोनुसर्वाः

पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः

स एव जातः स जनिष्यमाणः

प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ३२ । ४

इस मंत्र में ईश्वर का पैदा होना बताया गया है। मंत्रार्थ इस प्रकार है "यह देव परमात्मा दिशा और विदिशाओं में व्याप्त हो कर प्रथम कल्प के आरम्भ में गर्भस्थ होकर जन्म लेता है। वही पैदा हुआ और होगा वो ही प्रत्येक प्राणी के पास अदृश्य होकर बैठा है" स्वा० द० ने इस मंत्र में "सर्वतोमुखः" इस पद का अर्थ "सर्वतोमुखाद्यवयवायस्य" ऐसा किया है और भावार्थ में "अतीतानागतकल्पेषु जगदुत्पादनायपूर्वं प्रकटो भवति" लिखा है। सर्वव्यापक भी स्वयंभू होने से प्रकट होता है यही विलक्षणता है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त-

रदृश्यमानो बहुधा विजायते १० । ८ । १३

अथर्ववेद के इस मंत्र में प्रजापति परमात्मा अदृश्यरूप से गर्भ में आता है और फिर अनेक प्रकार से पैदा होता है। इस मंत्र में विस्पष्ट ईश्वर का जन्म लिखा है परन्तु मनुष्य उसको देख नहीं सकते। जीव भी इसी प्रकार गर्भ में नहीं दीखता है।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद

ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि ५ । १ । २

इस मंत्र में कहा है कि ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में धर्मका स्थापन कर अनेक शरीर धारण करता है। इसीलिए "तत्-सृष्ट्वा-तदेव-अनुप्राविशत्" ईश्वर जगत को रचकर जगत में ही प्रविष्ट होता है इस प्रकार ब्राह्मण में पाठ मिलता है।

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव

तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते

युक्तास्यस्य हरयः शता दश ६ । ४७ । १८

इन्द्र अपनी माया से बहुरूप हो कर प्राप्त होता है। इसी लिए रूप-रूप के प्रति तद्रूप बन जाता है। वह उसका अनेक रूप धारण करना मनुष्यों के प्रति अनन्त नाम से कथन के लिए हैं। मनुष्य उसको अनन्त नामों से कहें इस लिए वह बहुरूप हो जाता है। स्वा० द० ने १ । ५ पृष्ठ में इन्द्र शब्द ईश्वर वाचक माना है।

या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी ।
तयानस्तन्वाशन्तमयागिरिशन्ताभिचाकशीहि१६।२

हे रुद्र ! जो तेरी कल्याणकारिणी दर्शनीय और पापों को दूर करने वाली "तनु" शरीर है अत्यन्त कल्याण करने वाली उस "तनु" शरीर से हम को शासितकर। इस मंत्र में (तनु) पद दो वार आया है जो कि शरीर का वाचक है॥ स्वा० द० ने १।१३ पृष्ठ में रुद्र शब्द ईश्वरवाचक माना है। रुद्रावतार में यही मंत्र प्रमाण है।

स योनिमैति स उ जायते पुनः
स देवानामधिपतिर्वभूव १३।२।२५

वह योनि में प्रविष्ट होता है फिर वहाँ से उत्पन्न होता है, फिर समस्त देवताओं का अधिपति बनता है। परन्तु "तस्ययोनिंपरिपश्यतिधीराः" यजुर्वेद के इस प्रमाण से उस की योनि को धीर विद्वानपुरुष ही जानते हैं मूर्ख नहीं। इसी प्रकार "ततो विराड्जायत ३१।५ पूर्वोयो देवेभ्योजातः ३१ २०" इन मन्त्रों में भी विराट् की देवताओं से पूर्व उत्पत्ति कथन की गई है। कहाँ तक कहें !

अजोपिसन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्
प्रकृतिं स्वामधिष्टाय संभवाम्यात्ममायया ४।६

श्रीभगवान् गीता में कहते हैं कि मैं अज अव्ययात्मा भूतेश्वर हो कर भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया से जन्म लेता हूँ। इसी लिए वेद उनको "स्वयंभू" कहता है।

अवतारप्रयोजनम्

परित्राणाय साधूनां विनाशायचदुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामियुगेयुगे ४।८

साधु जनों की रक्षा करने, दुष्टों को दंड देने, धर्म को स्थित करने के लिए भगवान का अवतार होता है। यह भगवान की प्रतिज्ञा है। भक्तजन जिस समय दीनाक्रंदन करते हैं उस समय भक्तार्तिहारी भक्तवत्सल भक्तानुकंपी भगवान प्रकट होकर उनके विश्वास को स्थिर रखते हैं। यह उपासना का रहस्य है। इसका उदाहरण द्रौपदी के चीराकर्षण का समय है।

रामावतार क्यों हुआ ?

अनुव्रतः पितुः पुत्रोमात्रा भवतु संमनाः
जायापत्ये मधुमतीं वाचंवदतु शांतिवाम् १
मा भ्रातभ्रातरं द्विक्षन्मास्वसार मुतस्वसा
सम्यञ्चः सव्रताभूत्वा वाचंवदत भद्रया २

ऋग्वेद के दशम मंडल में यह दो मंत्र हैं। भाव इनका इस प्रकार है। पुत्र पिता की आज्ञा का पालक हो १ माता के साथ भी एक मत हो २ स्त्री पति से मधुर भाषण करे ३, भाई भाई से द्वेष न करे ४, बहिन बहिन से अविरुद्ध रहे ५, एक व्रत हो कर मंगलमय वाणी बोलें ६, यह वेद की आज्ञा है। निराकार ईश्वर का निराकार ज्ञान संसार में विफल था इस लिए साकार होकर ईश्वर ने अपने ज्ञान को स्वयं प्रत्यक्ष आचरण करके दिखाया, श्री रामचन्द्र जी पिता की आज्ञा से माता की

संमति लेकर वन गए। चलते समय सीता राम संवाद मधुर शब्दों में हुआ। भरत-राम में द्रोह न हुआ। यही रामावतार का प्रयोजन है।

ब्रह्मावतार

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव १
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् २
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ३
भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे ४

इन मंत्रों में ब्रह्मावतार का वर्णन है। देवताओं में ब्रह्मा प्रथम हुआ इस बात की साक्षी "पुराणवेद" भी देते हैं। इतिहास वेद भी इस बात को मानता है। सावित्री इनकी स्त्री और गायत्री इनकी पुत्री, मरीचि आदि दश पुत्र हंस वाहन यही इनका पोष्यवर्ग है।

वैष्णवावतार

प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमेषु
अधिक्षियंति भुवनानि विश्वा ॥

यजुर्वेद के इस मंत्र में विष्णु के अवतार वामन का वर्णन है। त्रिविक्रम वामन का नामांतर है। इसीलिये "वामनोहवै विष्णुरास" १।२।२।५ ऐसा शतपथ में लिखा है। इसी प्रकार देवकीपुत्र कृष्ण का वर्णन छांदोग्य प्र० ३ खं० १७

में विद्यमान है। वराहावतार का वर्णन अथर्व १२। १। ४८ में विद्यमान है।

वेद में पृथिवी की उपासना

उपासक अपनी रुचि के अनुकूल अपने मन को ईश्वर में लगाने के लिये किसी लक्ष्य को सामने रख कर ईश्वर भाव से उसकी उपासना करता है। इसी को [देशबंधश्चित्तस्य धारणा ३। १ यथाभिमतध्यानाद्वा १। ३०] योगदर्शन के इन दो सूत्रों में विस्तृत रूप से कहा गया है। चित्त का किसी देश में लगाना धारणा कहलाती है। वह यथाभिमत यथेष्ट पदार्थ के ध्यान से बन जाती है।

पृथिव्यै अकरं नमः १२। १। २६

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यैनमोस्तु ४२

इन मंत्रों में केवल पृथिवी को नमस्कार किया है। जो मतिमंद वेद में जड़ पूजा का विरोध बतलाते हैं वह अथर्व वेद के इस सूक्त को अवश्य पढ़ें। पृथिवी क्या पदार्थ है?

पद्भ्यां भूमिः ३१। १३

यस्य पृथिवी शरीरम्

भूः पादौ यस्य (वि० स०)

इन प्रमाणों से पृथिवी भगवान का चरण है। जितनी धातुमयी प्रतिमा है वह सब पार्थिव है। एक मृत्तिका का लोष्ट भी भगवान का चरण है। समस्त पृथिवी भगवान का शरीर है। इसलिये मूर्ति पूजन करना भगवान के चरण का पूजन करना है।

सूर्योपासना

उद्यतेनम उदायतेनमउदितायनमः १७।१।२२
अस्तंयतेनमोऽस्तमेष्यतेनमोऽस्तमितायनमः २३

अथर्व वेद की इन दो मंत्रों में सूर्य को नमस्कार करना लिखा है। उदय होते हुए उदय होने वाले तथा उदित सूर्य को नमस्कार है। अस्त होते हुए अस्त होने वाले अस्त हुए सूर्य को नमस्कार है। यह सूक्त अथर्व वेद में देखने योग्य है।

वेदमें अद्वैतवाद

तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ३२।१२
आत्मैवेदमग्र आसीत् ३।४
आत्मनात्मानमभिसंविवेश ३२।११
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ६
तत्संभूय भवत्येकमेव १०।८।११

वेद और उपनिषदों के इन प्रमाणों से जगत् और ब्रह्मका भेद मिट जाता है। ईश्वर ने वह देखा, वही बना, वही था, पहिले एक आत्मा ही था, आत्मा से आत्मा में प्रविष्ट हुआ, उसको बना कर उसी में समाया, सब मिल कर एक हुआ, यह सब बातें अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती हैं। इसी लिए

स वा भूमेरजायत तस्माद्भूमिरजायत
स वा अद्भ्यो अजायत तस्मादापोऽजायंत
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत १३।४
स वै वायोरजायत तस्माद्वायुरजायत १।३।४

अथर्व वेद में इस प्रकार कहा गया है। ईश्वर भूमि से और भूमि ईश्वर से पैदा हुई १, ईश्वर जल से जल ईश्वर से पैदा हुआ २। ईश्वर अग्नि से अग्नि ईश्वर से उत्पन्न हुआ ३ ईश्वर वायु से वायु ईश्वर से पैदा हुआ ४, यह सब मंत्र तभी चरितार्थ होते हैं जब अद्वैत हो। द्वैत में यह बातें संगठित नहीं हो सकती हैं। ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् (शतपथ) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छांदोग्य) नेह नानास्ति किंचन (कठ) इन वाक्यों की भी तभी संगति होती है जब अद्वैतभाव हो। द्वैतभाव में ये वाक्य कदापि चरितार्थ नहीं होते हैं।

जीव भी ईश्वरांश है

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातनः १ ।७

भगवद्गीता के इस पद्य में भगवान स्वयं श्रीमुख से कहते हैं कि "जीवलोक में जीव नाम धारी मेरा ही सनातन अविनाशी अंश है" अंश अंशी से भिन्न नहीं होता है। इसका अधिक विस्तार "अंशो नाना व्यपदेशात्" इस वेदांत सूत्र में किया गया है जो वहीं शंकर भाष्य के साथ देखने योग्य है। इसलिये भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी [ईश्वर अंश जीव अविनाशी] ऐसा रामायण में कहा है। यह गीता के पद्य का मर्मानुवाद है। उनकी यह कल्पना नवीन नहीं है।

ईश्वर पर आक्रमण

१६६ पृष्ठ में स्वा० द० ने "जो ईश्वर अवतार न लेवे तो कंस रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके" इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि "जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है" परन्तु स्वा० द० की यह बात

असत्य है। जन्ममरण शरीर के अदशम मात्र से हैं,जीव अज अमर है। सुवर्ण का रूपांतर में परिणत होजाना जन्म लेना नहीं है। सुवर्ण कुंडलाकार होने पर भी सुवर्ण तो रहता है। इसी प्रकार ईश्वर न कहीं जाता है न कहीं आता है। सुवर्ण से कुंडलवत् रूपांतर में होजाता है। जो उसकी इच्छा के आधीन हैं। इसी प्रसंग में अगाड़ी जाकर स्वा० द० कहते हैं कि "वह सर्वव्यापक होने से कंस रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण होरहा है, जब चाहें उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है" यहां पर हम पूछते हैं कि नन्हाजान रंडी ने जब तुमको जोधपुर में ज़हर दिलवाया उस समय ईश्वर आपके भीतर था या नहीं? यदि था तो उसके भीतर होने पर भी तुम क्यों मर गए? उसने तुम्हारी रक्षा क्यों नहीं की?

दूसरा आक्रमण

२०० पृ में स्वा० द० ने लिखा है कि "जो कोई कहे कि भक्त जनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है (तो भी सत्य नहीं क्योंकि) जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुसार चलते हैं उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है" हम कहते हैं कि पूरा सामर्थ्य होने पर ही तो ईश्वर अवतार लेता है। अवतार का न लेना भी उसके पूरे सामर्थ्य का विघातक है। इसमें अकबर के मंत्री बीरबल का उत्तर जो कि उन्होंने मोम के लड़के के द्वारा बादशाह को दिया था पर्याप्त है।

तीसरा आक्रमण

२०० पृ० (प्रश्न) "ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है या नहीं (उत्तर) नहीं, क्यों कि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट होजाय और सब मनुष्य महा पापी हो जांय" यह

स्वा० द० का लेख वेद विरुद्ध होने से केवल बकवाद है। वेद में "अघमर्षण" सूक्त पाप के दूर करने को लिखा गया है। जो संध्या में प्रति दिन पढ़ा जाता है। उसके अतिरिक्त अन्य अनेक मंत्र पापपानोदन के हैं जिनके द्वारा प्रार्थना करने पर ईश्वर पाप क्षमा करता है जैसे अथर्व ११। ६। १ में पाप मोचन सूक्त लिखा है। भगवान ने गीता में "अहंत्वां सर्वपापेभ्यों मोक्षयिष्यामि माशुचः" ऐसा स्वयं कहा है। जो ईश्वर भक्तों के पाप दूर नहीं करता है, या जिसमें अपराध क्षमा करने की शक्ति नहीं है ऐसे ईश्वर के मानने में हमको संकोच है। हम तो सर्वदा यही कहेंगे कि—

> यदि हरासि तदा हर पातकं
> यदि शिवोसि तदा कुरु मे शिवम् ।
> यदि भवोसि तदा भवभीतिहा
> शमय कष्टमिदं यदि शंकरः ॥१॥

चौथा आक्रमण

२०१ पृ० "(प्रश्न) जो परमेश्वर जीवकों न बनाता और सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ भी नहीं कर सकता था इस लिये परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है" इस प्रश्न का जो स्वा० द० ने उत्तर दिया है वह बड़ा ही असंगत है। क्योंकि—

> एष एव साधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो
> लोकेभ्यउन्निनीषति । एष एवासाधुकर्म
> कारयति तं यमधो निनीषते ॥ १ ॥

यह मंत्र वेदांत दर्शन के २।३।४१ सूत्र के भाष्य में भगवान शंकराचार्य ने उद्धृत किया है। मंत्रार्थ इस प्रकार है, "जिसको ईश्वर उन्नत करना चाहता है उससे अच्छे कर्म कराता है और जिसको नीचे करना चाहता है उससे बुरे कर्म कराता है"—

अज्ञो जंतुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव च ॥

ऐसा महाभारत में भगवान श्रीवेदव्यासजी कहते हैं। अज्ञजीव अपने सुख दुःख का अनीश स्वामी नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग में अथवा नरक में चला जाता है। (वन० अ० ३०।२७)

भागत्यागलक्षणा

वेदान्त के कतिपय ग्रन्थों में भागत्यागलक्षणा का प्रयोग मिलता है। कुछ लेना और कुछ छोड़ना भागत्यागलक्षणा कहलाती है। "जैसे सर्वज्ञत्व आदि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव का छोड़ कर केवल चेतन मात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करना" २०६ स्वा० द० से इसका अर्थ नहीं बना "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" इस न्याय का यहां पर सर्वांश में अनुमोदन कर लिया। प्रश्न अद्वैत विषयक था और जीव ईश्वर के नित्यत्व का बीच में पचड़ा लगा बैठे। जैसे कोई कहे कि महाराज ! आप मेरे पुत्र के विवाह में चलें ! वहां प्रश्न करें कि पुत्र नित्य है वा अनित्य ? यही हाल यहां पर है। [जीवेशौचविशुद्धाचित् १ कार्ये तद्विरयंजीवः २] ये दो पद्य २०६ पृष्ठ में दिये हैं। इनमें पहिला वार्तिक-

कार सुरेश्वराचार्य कृत है। दूसरा आथर्वणोपनिषद् का है। स्वा० द० ने इनको शंकरकृत मान कर २०६ पृष्ठ की २३ पंक्ति में अशुद्ध भी कर डाला और बिना सोचे समझे "संक्षेप शारीरक और शांकरभाष्य" का पता भी दे दिया। सोचा होगा कि कौन छान बीन करेगा ? यह मालूम न था कि सन् १६२० में इसकी "आलोचना" छपेगी ? नहीं तो ऐसा अंड-बंड पता न देते।

यहां आकर क्यों सूझो

२०६ में आप लिखते हैं कि "किंचित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़ और दृश्य है वैसे ही जल और अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य है। इतने से एकता नहीं होती" इस बात को वर्णव्यवस्था में क्यों भूल गए? मुण्डीजी! जैसे यहाँ पर "किंचित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं होगी" यह मान लिया वैसे ही शूद्रता ब्राह्मणता पर भी ध्यान दीजिये। जरा रांड़ की हड्डी से अपना ध्यान हटाइये।

सगुण है वा निर्गुण

२१० (प्रश्न) परमेश्वर सगुण है वा निर्गुण ? (उत्तर) दोनों प्रकार का है। यहाँ पर स्वा० द० ने स्वयं अपने मुख से ईश्वर को दोनों प्रकार का माना है। गुण द्रव्य में रहता है। परन्तु गुण द्रव्य में नहीं रहता है। अवयवी में अवयव रहता है परन्तु अवयव में अवयवी नहीं रहता है। इसलिये "निर्गत आकारात्सनिराकारः" यह स्वा० द० का निर्वचन अशुद्ध है। आकार गुण है। द्रव्य नहीं। द्रव्य ईश्वर है।

वेदाविर्भावविचार

प्रथम संस्करण के २४२ पृष्ठ पर लिखा है कि "ईश्वर ने उनको आकाशवाणी की नाईं सब शब्द, सब मंत्र, उनके स्वर, अर्थ, और सम्बन्ध भी सुना दिये इससे वेदों का नाम श्रुति रक्खा है" यह लेख वर्तमान स० प्र० के पुस्तकों में नहीं है। [अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते १ वायोर्यजुर्वेदः २ सूर्यात्साम्वेदः ३] शतपथ ब्राह्मण के ११।४।२।३ इन प्रमाणों से अग्नि तत्व के आधार पर ऋग्वेद बना, वायु तत्व के आधार पर यजुर्वेद बना, सूर्य तत्व के आधार पर सामवेद बना यह अर्थ निकलता है। इस नाम के ऋषि वेद के किसी मंत्र में भी नहीं मिलते हैं।

अग्निवायुरविभ्यस्तुत्रयंब्रह्मसनातनम् ।
दुदोहयज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् १।२३

इस पद्य में पहिले प्रकरण से ब्रह्मा की अनुवृत्ति आती है, और इस पद्य में जो ब्रह्म शब्द है वह वेद का वाचक है (वेदस्तत्वं तपोब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः) पद्य का अर्थ इस प्रकार है "फिर ब्रह्मा ने अग्नि वायु रवि इन तीन से ऋग्यजुः साम लक्षण सनातन (त्रयंब्रह्म) तीन वेदों को यज्ञ सिद्धि के लिए दुहा था" इस पद्य में न तो अंगिरा का नाम है और न अथर्व वेद का (अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता १४।२०) इस मंत्र में अग्नि वायु और सूर्य को देवता माना है ऋषि नहीं। ऋषि और देवता का लक्षण भिन्न २ है। "ऋषयो मंत्रद्रष्टारः १ यातेनोच्यतेसा देवता" २ मंत्र के द्रष्टा को ऋषि कहते हैं। और मंत्र के प्रतिपादनीय विषय को देवता कहते हैं। अग्नि आदि देवता हैं ऋषि नहीं।

भूतानांब्रह्मा प्रथमोह जज्ञे १९।२३।३०
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् ३।४
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ।१३।४
ब्रह्मादेवानां प्रथमः संबभूव १।१
यो ब्रह्माणंविदधाति पूर्वं ६।१८

श्रुतियों के इन प्रमाणों से इस सृष्टि में ब्रह्मा से पूर्व कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ। भूत मात्र में पहिले ब्रह्मा पैदा हुआ। यह सभी का सिद्धान्त है। इसी लिए "तस्मिन्ब्रह्म स्वयं ब्रह्मा" ऐसा मनु ने १।६ लिखा है। (स्वयंभू आत्मयोनि) ब्रह्मा को कहते हैं। ब्रह्मा को ईश्वर ने वेद दिये यह भी श्वेताश्वतर के ६।१८ में लिखा है। ब्रह्मा के पुत्र पौत्र प्रपौत्रों में अंगिरा आता है यह बात मुंडक के दूसरे मन्त्र में विस्पष्ट कहा है। शतपथ ब्राह्मण के ११।५।८ में एक आख्यान लिखा है। जिसमें लिखा है कि पहिले प्रजापति ने तप करके पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ बनाया। इनको तपा कर अग्नि वायु सूर्य इन तीन ज्योतियों को बनाया। इनको तपा कर तीन वेद बनाये, उनको तपा कर तीन महाव्याहृति बनाई। इसलिए वेदाविर्भाव प्रसंग में अग्नि आदि को सृष्टि के प्रथमकाल में ऋषि मानकर उनसे वेदों का सिद्ध करना केवल असिद्धसाधनमात्र है।

मंत्रब्राह्मणविमर्श

वर्तमान समय के अंधशिष्य वेदों का रहस्य न जान कर वेद और ब्राह्मण में भेद मानते हैं। परन्तु मन्त्रभाग ब्राह्मण भाग इन दोनों में भाग शब्द अवयव का बोधन कराता है।

जिस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों मिल कर एक माने जाते हैं और अलग अलग अर्धांग कहे जाते हैं. जिस प्रकार दक्षिणभाग वामभाग दोनों भाग एक ही पुरुष के होते हैं इसी प्रकार मंत्रभाग ब्राह्मण भाग इन दोनों को मिला कर एक वेद माना जाता है। अंग अंगी से जुदा नहीं होता, उपांग अंग से अलग नहीं होता, शाखा स्कंध पत्र पुष्प फल सब एक ही वृक्ष के होते हैं यही बात यहाँ पर भी है। ११३१ शाखा ६ अंग ६ शास्त्र उपनिषदें इतिहास पुराण यह सब मिल करके वेद कहाते हैं। इसलिए [मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । मंत्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः] इस प्रकार के वचन कात्यायन बौधायन आप-स्तंब आदि ने, प्रमाण कोटि में माने हैं। [तच्चोदकेषु मंत्राख्या २।३२ शेषे ब्राह्मणशब्दः २।३३] मीमांसा दर्शन के इन दो सूत्रों में विधि प्रेरक वाक्य को मंत्रभाग कहा है और उससे अवशिष्ट भाग को ब्राह्मण कहा है। इसलिए जिस प्रकार अष्टाध्यायी महाभाष्य दोनों मिलकर एक व्याकरण कहा जाता है, उसी प्रकार मंत्र ब्राह्मण दोनों मिल कर वेद कहाते हैं। इसका अधिक विवेचन हमने "अथर्ववेदालोचन" में किया "।

वेदशाखानिर्णय

२१५ "(प्रश्न) वेदों की कितनी शाखा हैं? (उत्तर) ग्यारह सौ सत्ताईस (प्रश्न) शाखा क्या कहाती है? (उत्तर) व्याख्यान को शाखा कहते हैं। "जितनी शाखा हैं वे आश्व-लायन आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। और मंत्र संहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है"। यह स्वा०द०का लेख है। परन्तु [एकशतमध्वर्युशाखाः (१०१) सहस्रवर्त्मा सामवेदः (१०००) एक विंशतिधा बाह्वृच्यं (२१) नवधाथर्वणो वेदः (९)] महाभाष्य

कि इस प्रमाण से वेद की ११३१ शाखा सिद्ध होती है। यहाँ पर हम स्वा० द० से पूछते हैं कि ११२७ के होने में प्रमाण क्या है? किस वेद मंत्र में ११२७ शाखाओं का आयोजन लिखा है? व्याख्यान को शाखा किस वैदिक ऋषि ने माना है? तुम जिनको वेद मानते हो वे चारों वेद शाकलमाध्यंदिन कौथुम शौनक शाखा के नाम से विख्यात हैं। ईश्वर के नाम से नहीं। आज तक हमने किसी भी मंत्र संहिता के ऊपर [परमेश्वरविरचितोऽऋग्वेदः। ईश्वरप्रणीतोयजुर्वेदः। परमात्मनिर्मितःसामवेदः] यह शब्द नहीं देखे "कौनसे प्रेस में किस पुस्तकालय में इस प्रकार के वेद हैं? ऐसी वेतुका बात कहने पर लज्जा आनी चाहिए जो मन में आया लिख मारा, न कोई प्रमाण है, न कोई बात है?

अष्टमसमुल्लासालोचन

इसमें २७ पृष्ठ हैं। वेद के ८ मंत्र पूरे और ८ ही छोटे २ टुकड़े हैं। १३ उपनिषदों के वचन और १२ दर्शनों के सूत्र हैं। २ शतपथ के मंत्र और एक भगवद्गीता का पद्य है। मनु के ३ पद्य पूरे और २ पद्य आधे २ हैं। एक कहीं का फुटकर पद्य है। कुल मसाला इतना है। निम्नलिखित बातें इसमें आलोचनीय हैं।

अर्थ में गड़बड़

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥१॥

ऋग्वेद का यह मंत्र है। इसमें कौन सृष्टि करता है? कौन इसका धारण करने वाला है? इन दो प्रश्नों पर विचार है। मंत्रकृत ऋषि इन दोनों प्रश्नों का मत्य २ उत्तर देकर अपना मत प्रकट करता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है। (यतः) जहाँ से (इयं विसृष्टिः) यह अनेक प्रकार की सृष्टि (आबभूव) पैदा हुई (यदि वा दधे) इसका धारण करने वाला कोई है (यदि वा न) या नहीं इन दोनों बातों का उत्तर (परमे-

व्योमन् योऽस्याध्यक्षः) आकाश से पर जो इसका मालिक है अंग ! हे प्रश्न करने वाले ! (स वेद) वही जानता है.(यदि वा न वेद) अथवा वह भी नहीं जानता है। यह मंत्रों का पदार्थ है। इसका २१८ पृष्ठ में जो स्वा० द० ने अर्थ किया है वह कपोलकल्पित है।

तटस्थ-लक्षण

यतोवा इमानि भतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति
तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व १ तै० उ०

जहाँ से यह समस्त भूत पैदा होते हैं। पैदा होकर जिसके सहारे जीते हैं। और जिसमें अन्त में विलीन होते हैं। उसको ब्रह्म कहते हैं। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। स्वरूप लक्षण नहीं है। स्वा० द० ने इसको ब्रह्म का स्वरूप लक्षण मानकर अपनी मन्दता का पूरा परिचय दिया है।

संसार क्या है

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम् ३१।२
सर्वं खल्विदं ब्रह्म ३।१४।१ छान्दोग्य

पुरुष शब्द से यहाँ पर ब्रह्म का ग्रहण है। वेद कहता है कि (इदंसर्वं) यह जो कुछ दीखता है (यद्भूतं) जो गुजर चुका है और (यच्चभाव्यम्) जो होने वाली है (पुरुषएव)

वह सब ब्रह्म ही है। इसी की पुष्टि में छांदोग्य का वचन भी है। उसमें भी इस जगत को ब्रह्म ही माना है। यह सब अद्वैत प्रतिपादक वेदमंत्र हैं।

सृष्टि के पहले क्या था

आत्मवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः १

ब्रह्मवा इदमग्रआसीत् २

सोकामयत बहुःस्यां प्रजायेय ३

आत्मावा इदमेकएवाग्र आसीत् ४

उपनिषदों के इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि (अग्रे) पहिले केवल ब्रह्म ही था। उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मैं बहुत रूप बनूं और पैदा होजाऊं। इसी इच्छा से यह सब कुछ बन गया। इसीलिये मुंडक में [यथोर्णनाभिः सृजतेगृह्णते च० तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् १।१] इस प्रकार कथन किया गया है।

सृष्टि कैसे बनी

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसःपुरुषः। १तै. उ.

आत्मा से आकाश—आकाश से वायु—वायु से अग्नि अग्नि से जल, जल से पृथिवी पृथिवी, से ओषधियां, ओषधियें

अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष बना यह सृष्टिक्रम उपनिषदों का है।

पुरुषएवेदंसर्वम् १ ततोविराडजायत २ तस्मादश्वाअजायंत ३

पहले एक ब्रह्म था। उससे विराट् ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उससे ही साध्य-ऋषि-घोड़े-गौ-बकरी-मनुष्य-ब्राह्मणादि वर्ण पंच महाभूत बने। यह सृष्टिक्रम यजुर्वेद अध्याय ३१ में लिखा है।

आत्मैवेदमग्रआसीत् १ ततोमनुष्याअजायंत २ ततोगावोऽजायंत ३ ततएकशफाअजायन्त ४ ततोऽजाऽवयश्चाजायंत ५

पहिले एक ब्रह्म था। उसी से मनुष्य, गौ, घोड़े, गधे, बकरी, भेड़, चींटी तक सब कुछ बने यह सृष्टिक्रम शतपथ ब्राह्मण में लिखा है। "इसका अधिक विवेचन हमने "वेदत्रयी समालोचन" में किया है" वेद और ब्राह्मण की सृष्टि में कुछ अन्तर नहीं है। [आसीदिदंतमोभूतम् १।५ अतएव समर्जादौ० तास्वबीजमवासृजत् ० तदण्डमभवद्धैमं ० तस्मिन्जज्ञे स्वयंब्रह्मा०] पहिले कुछ नहीं था। सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ था। उसमें ब्रह्म ने सबसे पहिले जल बनाया। उसमें शक्ति रूप बीज गेरा। उसका एक अंडा बना, उसमें से स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा से फिर सब कुछ हुआ, यह सृष्टि क्रम मनुस्मृति का है।

अब सूझी

२२१ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "जैसे शरीर के अंग जब तक शरीर के साथ रहते हैं तब तक काम के और अलग होने

से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक और प्रकरण से अलग करने, वा किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थक हो जाते हैं"। कहो दयानन्द! यह बात [अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् १ तामनेनानुविधानेन २ सावेदक्षतयोनिः स्यात् ३] इन प्रमाणोंको प्रकरण विरुद्ध जब तुमने अपने प्रयोजनार्थ प्रसंग से काट काटकर लगाया था उस समय तुम्हारी बुद्धि कहाँ गई? इसी को "परोपदेशे पांडित्यम्" कहते हैं। जब अपने मनमाने द्वैतवाद पर चोट आई तब भंग उतरा। परन्तु अब क्या होता है"

बेईमानी

मनुष्या ऋषयश्चये। ततोमनुष्याअजायन्त।

यह वाक्य अभी तक २३४ पृष्ठ में छपे आ रहे हैं। पहिले संस्करण में यह प्रकरण ही नहीं है। दूसरे में बढ़ाया गया है। अब तक ये दोनों टुकड़े यजुर्वेद के नाम से छप रहे थे। अब आकर (और उनके ब्राह्मण) ये शब्द और बढ़ा दिये गए हैं परन्तु यह लेख पिछले कई संस्करणों में न होने के कारण दयानन्द का नहीं है। पीछे बढ़ाने घटाने का कोई आज्ञापत्र दयानन्द ने लिखा नहीं है। इस पर भी यह तुर्रा कि वेद में "साध्याऋषयश्चये ३१।९ पाठ है न कि "मनुष्या ऋषयश्चये" वेद में पाठ बदलना अभी तक किसी को न सूझा। अंधाचार्य ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये वेद पर भी हाथ साफ कर दिया। जिसका इरादा यहाँ तक हो वह क्या २ न करेगा यह अनुमान लगाना चाहिये। हम समाजियों को चेलेंज देते हैं कि वे दयानन्द ने जो पाठ यजुर्वेद के नाम से दिया है उस को हमें यजुर्वेद में दिखा दें!

कोई तो प्रमाण दिया होता?

२३४ पृष्ठ में (प्रश्न) आदि सृष्टि में मनुष्य आदि की बाल्य-युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी? अथवा तीनों में? (उत्तर) युवावस्था में" स्वा० द० के इस लेख में किसी वेद मंत्र का प्रमाण नहीं है। यदि है तो समाजी दिखा दें?

खूब चुपकी साध ली

२३५ पृष्ठ में (प्रश्न) मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई (उत्तर) त्रिविष्टप, अर्थात् जिसको "तिब्बत" कहते हैं (प्रश्न) आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक (उत्तर) एक मनुष्य जाति थी" यह स्वा० द० का लेख है। परन्तु इसमें वेद का कोई मंत्र प्रमाण नहीं है। संस्कृत के कोषों में त्रिविष्टप स्वर्ग का नाम है। तिब्बत पृथिवी पर है "सहस्राश्वीनेवाइतः स्वर्गोलोकः" ७।७ ऐतरेय ब्राह्मण के इस प्रमाण से स्वर्ग अंतरिक्ष में है। इस अंधेर का क्या ठिकाना? कहाँ पृथिवी? कहाँ अंतरिक्ष? यजुर्वेद के ३१ अध्याय में ब्राह्मणादि जाति का उद्भव लिखा है। ३० अध्याय में सूत शैलूष आदि अनेक वर्णसंकर जातियां लिखी हैं। ये कब बनी? अगर फिर बनी तो सृष्टि की आदि में प्रकट हुए वेद में इनका नाम क्यों?

ओढ़ली लोई तो क्या करेगा कोई

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते २।१७

२३५ पृष्ठ में मनु के नाम से यह पद्य दिया है। परन्तु मनु में यह पद्य आर्यावर्त देश की सीमा नहीं बताता है,

किन्तु " ब्रह्मावर्त" देश की बताता है । स्वा० द० ने इसमें बजाय "ब्रह्मावर्त" के "आर्यावर्त" पाठ लिखा है । हम समाजियों को चैलेंज देते हैं कि वह छपी हुई किसी भी मनु में यह पाठ लिखा दें जो अब तक हिन्दुस्तान में विद्यमान हैं । नहीं तो पाठ बदलने का दोष दयानन्द पर लगता है ।

शूद्र आर्य नहीं

उत शूद्रे उतार्ये (अथर्व)

विजानीह्यार्यान्येच दस्यवः (ऋग्वेद)

यह दो वेदों के दो प्रमाण २३६ पृष्ठ में लिख कर अंधेश्वर कहते हैं कि "ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनाय है" आर्य से भिन्न अनार्य कहलाता है ॥ यहां पर अंधशिष्यने शूद्र को आर्य नहीं माना ॥ ऋग्वेदमें [विशः प्रजा आर्याः] ऐसा लिखा है ॥ वर्तमान समय के समाजो रजिष्टरों में अधिकतर-संकीर्ण वर्ग की जातियां हैं— जो ≠) चंदा दे कर "आर्य" कहलवाने का दावा रखती हैं— परन्तु हम यहां पर एक बात कहे देते हैं-वेद की आज्ञा के विरुद्ध करने में किसी को सफलता न होगी । वेद में जो उच्च लिखा है वह उच्च हो रहेगा-जिसको नीच लिखा है वह नीच ही रहेगा-लाख यत्न करने पर भी अदल बदल न होगा ।

अभीतक भंग नहीं उतरी

२३८ पृष्ठ में (प्रश्न) जगत की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ (उत्तर) एक अरब, छानवे करोड़, कई लाख और कई सहस्र की जगतकी उत्पत्ति और वेदोंके प्रकाश होनेमें हुए हैं" दयानन्द ! क्या कहना है इस पंडिताई का ? बलिहारी

है। एकदम इतनी भूल, चेले तो पुस्तक पर [१९७२९४९०१८] इतना आर्य वत्सर छापते हैं और तुम ९७ के ९६ ही गाए जा रहे हो १०००००० की चटनी कर गए ? ज़रा पंचांग तो देखो?

शेषनाग से डर गये

२३८ पृष्ठमें (प्रश्न) इसका धारण कौन करता है...(उत्तर) जो शेष सर्प और बैलके सींगपर धरी हुई पृथिवी बतलाता है उसको पूंछना चहिये कि...सर्प और बैल आदि किसके ऊपर है ?" दयानन्द ! तुम प्रश्न का उत्तर देते हो या हमसे प्रश्न करते हो ? प्रश्न का उत्तर तो तुमसे बना नहीं परन्तु तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हम देते हैं सुनो ! समस्त ब्रह्मांड का धारण करनेवाला "शेषशायी भगवान्" है ॥ ईश्वर व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध से सबको अपने में धरता है। तुम्हारा निराकार भी बिना व्याप्य प्रकृतिके निरालंब है। उसको अव-लंब देने वाली भी प्रकृति ही है। यदि वह अपने में ईश्वरको न घुसने दे तो तुम्हारा निराकार धरा ही रह जाय-इस लिये ईश्वर भी प्रकृतिका आधार लेकर सबका धर्ता है। उसी प्रकृति के शेष (अवसान) में भगवान वटपत्र के पुटमें सोते हैं। इस रहस्य को तुम अभीतक नहीं समझ सके यही हमको खेद है।

पुराणों का आश्रय लिया

२३९ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "कद्रू सर्प कश्यप से कश्यप मरीचि से मरीचि मनुसे मनु विराट से विराट ब्रह्मासे ब्रह्मा आदि सृष्टिका था" दयानन्द ! तुमने इस बात को किस वेद मंत्र के आधार पर लिखा जरा सच तो कहो—जिस पौराणिक सृष्टिक्रम का पहिले खंडन किया,अन्त में उसी पर आगए ? क्यों जान बूझ कर दुनियां को धोखा देते हो। सत्य का आश्रय लो।

लोकांतर स्वीकार

२४१ पृष्ठ में (प्रश्न) सूर्यचन्द्र और तारे क्या वस्तु है ! और इनमें मनुष्यादि सृष्टि है वा नहीं ? (उत्तर) ये सब लोक हैं। इनमें मनुष्यादि प्रजा रहती हैं" स्वा० द० ने यहाँ आकर अन्यलोकस्थ प्रजाका स्वीकार किया है ॥ यमलोक पितृ लोक ये सब चन्द्रमंडलाश्रित हैं। चंद्र मडल के ऊपर जहां पितर हैं उस कक्षाका नाम "प्रद्यो" है। उसका वर्णन ६१ पृष्ठ में गया है ॥

अब क्यों मान गए

२४२ पृष्ठमें (प्रश्न) जिन वेदों का इसलोक में प्रकाश है उन्हींका उन उन लोकों में भी प्रकाश है वा नहीं (उत्तर) उन्हीं का है ॥ जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था, नीति, सब देशों में समान होती है उसी प्रकार राजराजेश्वर परमात्मा की वेदोक्त नीति अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक सी है" दयानन्द ! जब तुम इस बात को मानते हो तब मृतक श्राद्ध पर क्यों हुज्जत करते हो बृटिश राज्य भारत और अन्य द्वीपों में भी है। उसमें एक राज्य होने के कारण यहां से भेजा रुपया शिलिंग बन कर देशांतर में मिलता है यह बात सभी को विदित है ॥ इस दृष्टांत को तुम भी मानते हो। जब यही बात है तो जितने लोक हैं वे सब ईश्वर के है। उनमें वेद की एक सी नीति है। फिर यहां के भेजे हुए श्राद्धफलके मानने में तुमको क्या आपत्ति है ? व्यवस्था सर्वत्र ईश्वर की है। वेद कानून है। सब लोकों में जीवोंका आवागमन है।

नवमसमुल्लासालोचन

इसमें २८ पृष्ठ हैं। ३ मंत्र वेद के हैं, १ शतपथ का है, ६ उपनिषदों के हैं, १२ दर्शनों के सूत्र हैं, २६ पद्य मनु के और १ गीता का है। कुलमसाला इतना है। निम्न लिखित बातें इसमें आलोचनीय हैं।

मोक्ष का लक्षण

यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमांगतिम्॥

कठोपनिषद् के इस मन्त्र में कहा गया है कि—जिस समय पांच ज्ञानेंद्रिय मन के साथ आत्मा में निश्चल रूप से स्थित रहते हैं और बुद्धि भी जब निश्चल भाव में रहती है उसको परमगति कहते हैं। मुक्ति से फिर न लौटना प्रायः सभी आचार्य मानते हैं। वेद में भी इसी बात का प्रतिपादन है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ३।६०

इस मंत्र में कहा गया है कि "हम त्र्यम्बक (रुद्र) की पूजा करते हैं जो सुगंध युक्त और बल का वर्धन है, उसकी कृपा से हम पके हुए खरबूजे के समान मृत्यु से छुटजावें परन्तु (मा अमृतात्) अमृत अर्थात् मोक्ष से हम कदापि अलग न हों।

वेद में जो प्रार्थना की गई है वह सत्य है। यदि मुक्ति से लौटना वैदिक सिद्धांत होता तो न लौटने की प्रार्थना क्यों की जाती। इस प्रकार की प्रार्थना का होना ही मुक्ति से न लौटने में अन्यानपेक्ष परम प्रमाण है। इसलिये स्वा० द० ने जो इस विषय में कुछ लिखा है वह वेदविरुद्ध है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ८।१६

भगवद्गीता में यह भगवान का वाक्य है। इसका अर्थ यह है कि हे अर्जुन! लोक ब्रह्मलोक तक जाकर लौट आते हैं परन्तु मुझको प्राप्त होकर फिर उनका जन्म नहीं होता है। इसीलिये [यद्गत्वा न निवर्तते तद्धाम परमं मम ८।२१] ऐसा भगवान ने अपने श्रीमुख से कहा है जो सर्वथा सत्य है।

[न मुक्तस्यपुनर्बंधयोगोप्यनावृत्तिश्रुतेः ६। १७ अनावृत्तिः शब्दात् ४। ४। २२] सांख्य और वेदांत के ये दो सूत्र हैं इनका अर्थ इस प्रकार है। "अनावृत्तिश्रुति" के प्रमाण से एक वार जो बंध से छुट गया है अर्थात् जो मुक्त हुआ है उसको फिर दुबारा बंध नहीं होता है। वेदांत सूत्र भी इसी बात का अनुमोदन करता है। "शब्दात्' शब्द प्रमाण रूप वेद की आज्ञा से "अनावृत्तिः" मुक्ति से फिर लौटना नहीं बनता है। अब जिन श्रुतियों के आधार पर यह कहा गया है उन श्रुतियों को लिखते हैं।

न च पुनरावर्तते ८।१५
तेषां न पुनरावृत्तिः ६।२।१५
एतस्मान्न पुनरावर्तंते १।१०
निरंजनः परमं साम्यमुपैति ३।१।३

ये चार श्रुतियां, हैं। छांदोग्य, बृहदारण्यक, कठ, मुंडक इनके वचनों को कपिल और व्यास जी ने श्रुति कह कर माना है। इन सभी श्रुति प्रमाणों का "मुक्ति से फिर नहीं लौटता है" यही परमार्थ है। इसीलिये मुक्ति को "परमसाम्य" कहा है। [बाधनालक्षणं दुःखम् १।१।२१ तदत्यंतविमोक्षोऽपवर्गः १।१।२२]न्यायदर्शन के इन दो सूत्रों में गौतम जी कहते हैं कि जिसमें बंधन हों उसको दुःख कहते हैं। बाधना अनेक प्रकार की होती है,उसका जो अत्यंत विमोक्ष अर्थात् अत्यंताभाव है उसी को अपवर्ग मोक्ष कहते हैं।२५३ पृष्ठ में स्वा०द० ने "अत्यत" शब्द का अत्यंताभाव रूप अर्थ नहीं माना यह उसकी मंदता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ३।१।१८

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः १।८ श्वेताश्व०

वेद के इन प्रमाणों से सिद्ध है कि जब ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान होता है तब मनुष्य "अतिमृत्यु" होता है, मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है और समस्तपाशों से छूट जाता है।

ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले

परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ३।२।६

२४३ पृष्ठ में इस मुंडक की श्रुति का उद्धरण देकर जो स्वा० द० ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने की चेष्टा की है वह केवल असिद्धसाधन मात्र है। क्योंकि मुंडक की श्रुति के पदों का अर्थ इस प्रकार है। ("ब्रह्मलोकेषु") ब्रह्मलोक में विद्यमान (ते सर्वे) वे सब (परांतकाले) ब्रह्मलोक वास की अवधि में (परामृताः) पर है अमृत ब्रह्मसायुज्य जिनसे ऐसे होकर

(परिमुच्यंति) ब्रह्मलोक से छूट जाते हैं। यह मंत्रार्थ है। ब्रह्मलोक तक जाकर जीव लौट आते हैं परन्तु ईश्वर में मिलने के बाद नहीं लौटते यह हमने पहिले प्रतिपादन किया है। संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ४। ४। ८) वेदांतदर्शनके इस सूत्र में मुक्त जीव की सांकल्पिक सिद्धि का वर्णन किया है। उपासना के प्रभाव से जब उपासक ब्रह्म में लीन होजाता है उस समय उसके संकल्प मात्र से सब कुछ होजाता है। ईश्वर सत्यसंकल्प और पूर्णकाम है। उसमें मिलकर ब्रह्मांश जीव भी सत्यसंकल्प और पूर्णकाम होजाते हैं। इसीलिये (सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता १) ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है। इसमें "ब्रह्मणासह" यह पद समस्त शंकाओं का दूर करने वाला है। जब तक ब्रह्म रहेगा तब तक उसके साथ मुक्त जीव रहेगा और "सर्वान्कामान्" समस्त इच्छानुगत पदार्थों का भोग भी उसको संकल्पसिद्ध होगा, इसीलिये [स यदा पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठंति १ स यदा मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति २] ऐसा छांदोग्य में प्रतिपादन किया है। यह सब सांकल्पिक सिद्धि के लक्षण हैं। इसी सिद्धि के द्वारा मुक्त जीव सर्वदा ब्रह्मयन कर ब्रह्मानंद का आनन्द लेता है। यही अटल वैदिक सिद्धांत है।

शुनःशेप की ब्रह्मस्तुति

अथ ह शुनःशेप ईक्षांचक्रे। अमानुषमिव वै मा विशसिष्यति। हंताहं देवता उपधावानीति। स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार "कस्य नून" मित्येतया ऋचा ७।१६

ऋग्वेद का प्राचीनतम आर्यभाष्य "ऐतरेयब्राह्मण" है, उसमें अजीगर्त राजा के किये हुए "राजसूय" यज्ञ का आख्यान पहिले से चला आरहा है। यज्ञ में बलि चढ़ाना अति प्राचीन है। पशुस्थानीय "शुनःशेप" इसमें अब मारा जायगा। समय आने पर जब अजीगर्तने हाथ में तलवार लिये लिये बलिपशु शुनःशेप को यूप से मंगवाया तब शुनःशेप डरा और मनमें विचारने लगा कि यह राजा मुझको पशु की तरह मार देगा इसलिये देवताओं के शरण में जाकर मैं अपने को बचाऊं। यह सोच कर सब से प्रथम उसने ब्रह्मा के पास जाकर "कस्यनूनं" इस मंत्र से ब्रह्मा की स्तुति की जो इस प्रकार है।

कस्य नूनं कतमस्याऽमृतानां
मनामहे चारु देवस्य नाम ॥
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्
पितरं च दृशेयं मातरं च १।२४।१

"क" नाम ब्रह्मा का है। (अमृतानां) देवताओं में (कतमस्य) अज्ञात संख्यावाले (कस्य—देवस्य) ब्रह्मा देव का [चारु नाम] सुन्दर नाम को (नूनं मनामहे) निश्चय करके हम याद करते हैं (नः) हमको (कः) ब्रह्मा (मह्यै अदितये) पृथिवी माता के ऊपर (पुनर्दात्) फिर भेजे यह प्रार्थना है जिससे (पितरं मातरंच दृशेयं) मैं अपने जिंदे माता पिता का दर्शन करूं। यह मंत्रार्थ है। राजा के मांगनेपर शुनःशेप के माता पिता ने यज्ञार्थ अपने पुत्र शुनःशेप को देदिया था। इसीलिये ब्रह्मदेव से फिर माता पिता के दर्शन करने की शुनःशेप ने प्रार्थना की।

शुनःशेप की अग्निस्तुति

तं प्रजापतिरुवाच। अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठः। तमेवोपधावेति। स अग्निमुपससार "अग्नेर्वय" मित्येतया ऋचा ७।१६

ब्रह्मा ने शुनः शेप से कहा कि देवताओं में अग्निदेव बहुत पास है (नेदिष्ठमंतिकतमम्) तुम उसके पास जाओ। ब्रह्मदेव की ये बात सुनकर शुनःशेप अग्नि के पास गया और "अग्नेर्वयं" इस मंत्र से अग्नि की प्रार्थना करने लगा जो इस प्रकार है।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां
मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात्
पितरं च दृशेयं मातरं च १।२४।२

(वयं) हम (अमृतानां प्रथमस्य) देवताओं में प्रथम (अग्नेर्देवस्य) अग्नि देव का (चारु नाम मनामहे) सुंदर नाम स्मरण करते हैं, (स नः) वो अग्नि हमको पृथिवी माता के पास फिर भेजे जिससे मैं अपने जीते जी जीवित माता पिता का फिर दर्शन करूं यह मंत्रार्थ है। अग्नि ने इस प्रकार प्रार्थना सुन कर उसको वरुण देव के पास भेजा और वरुण ने उसके समस्त पाश काट दिये और उसको बंधन से मुक्त किया यह बात १।२४।१४ मन्त्र में जो इसी सूक्त के अंदर है, लिखी है।

आलोचन

ऋग्वेद के प्रथम मंडल में २४ वाँ सूक्त सब का सब शुनः शेप ऋषि दृष्ट है। उसमें पाशबद्ध शुनःशेप ने उससे छुटकारा पाने के लिये ब्रह्मा अग्नि वरुण की स्तुति की जिसके प्रति फल में देवताओं ने उसको बचाया यही समस्त सूक्त का अभिप्राय है। ऋग्वेद का प्राचीन भाष्य ऐतरेय ब्राह्मण है। उसमें इन दोनों मंत्रों का उपक्रमोपसंहार इस प्रकार लिखा है। इसमें बद्ध की प्रार्थना मुक्ति के लिये है। स्वा० द० ने मुक्ति से लौटने में यह मंत्र दिये हैं यह कितनी बड़ी चालाकी है। ऋषि विरुद्ध, देवता विरुद्ध, ब्राह्मण विरुद्ध. इस अर्थ की कल्पना में दयानंद जरा नहीं झिझका, वाहरी धृष्टता ! साहित्य दर्पण के ३ परिच्छेद में जो धृष्टनायक का लक्षण लिखा है वह यहाँ पर सर्वांश में घट जाता है। देखिये।

> कृतागाअपि निःशंक-
> स्तर्जितोपि न लज्जितः।
> दृष्टदोषोपिमिथ्यावाक्
> कथितो धृष्टनायकः ३।४४

अपराध करने पर भी जो निःशंक हो, फटकारने पर भी जिसको लज्जा न हो, दोषों के प्रत्यक्ष होने पर भी जो मिथ्य भाषण में संकोच न करे उसको धृष्टनायक कहते हैं। वेद के मंत्रों का अनर्थ करना कितना बड़ा अपराध है परन्तु दयानंद मंत्रों का उलटा ऋषि देवता विरुद्ध अर्थ करने पर भी निःशंक है। इसलिए "कृतागाअपिनिःशंकः" यह सार्थक हुआ। अब

लीजिये काशी के शास्त्रार्थ में अनेक पंडितों की फटकार लगने पर भी आप लज्जित नहीं हुए इसलिये "तर्जितोपि न लज्जितः" चरितार्थ होगया। दयानन्द में दोष एक नहीं किन्तु अनेक थे उनके होने पर भी ये अपने ग्रंथों में कितना प्रकरणविरुद्ध मिथ्या भाषण करते हैं यह विद्वानों से छिपा नहीं है इसलिये "दृष्टदोषोपिमिथ्यावाक्" कहिये अबतो लक्ष्य लक्षण संगति में कसर नहीं रही ?

दयानन्द की चिन्ता

२५३ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "मुक्ति में से कोई भी लौट कर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निःशेष हो जावेंगे" इसके बाद इसी पृष्ठ में आप कहते हैं कि "मुक्ति के स्थान में बहुत सा भीड़ भड़का हो जावेगा क्योंकि वहां आगम अधिक और व्यय कुछ भी नहीं होने से बढ़ती का पारावार न रहेगा" इस चिंता के मारे आप व्याकुल हो गए। दयानन्द ! क्या बात है। संसार जिस ईश्वर का है वह सब प्रबंध कर लेगा। तुमें क्या पड़ी ? जाओ अपने घर बैठो।

मुक्ति में भी कुलीपना

२५४ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "जो जितना भार उठा सके उतना उस पर धरना बुद्धिमानों का काम है, जैसे एक मन भार उठाने वाले के शिर पर दस मन धरने से भार धरने वाले की निंदा होती है-वैसे अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्य वाले जीव पर अनंत सुख का भार धरना ईश्वर के लिये ठीक नहीं" यह लेख प्रमाणाभाव से प्रमत्तगीत के बराबर है।

मुक्ति में जेलखाना

२५४ पृष्ठ में आप लिखते है कि "क्या थोड़े से कारागार से जन्म कारागार दण्डवाले प्राणी अथवा फांसी को कोई अच्छा मानता है ? जब वहां से आनाही न होतो जन्म कारागार से इतना ही अंतर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती (इसलिये) ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है" दयानन्द का यह भी लेख प्रमाणाभाव से प्रमत्तगीत के बराबर है।

जन्मांतर फलप्राप्ति

"पूर्वजन्म के पाप पुण्य के अनुसार सुख दुःख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है २६० एक जीव विद्वान पुण्यात्मा श्रीमान् राजा की रानी के गर्भ में आता और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है २६१ पूर्वजन्म के पाप पुण्य के अनुसार वर्तमान जन्म और वर्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत्-जन्म होते हैं २६२ दयानन्द ! जब तुम इस बात को मानते हो और "नमोज्येष्ठायचकनिष्ठायचनमः" १६ ' ३२ इस मंत्र के संस्कृत भाष्य में ब्राह्मण को ज्येष्ठ क्षत्रिय वैश्य को मध्यम और शूद्र को जघन्य-अधम लिख चुके हो-तो फिर तुम एक जन्म में जाति परिवर्तन कैसे लिखते हो ? क्या कोई वेद मंत्र एक जन्म में जाति परिवर्तन मानता है ?

गरुड़ पुराण का यम

२६२ पृष्ठ में "यमेनवायुना" यह आदि मध्यान्तर हितलापता एक मंत्र का अष्टमांश लिख कर स्वा०द० ने अपने वे

वेदपांडित्य का पूरा २ परिचय दिया है। पहिले तो विना मंत्र के ऋषि-देवता देखे हुए मंत्रार्थ करना ही मूर्खता है। उस पर भी विना निरुक्त के प्रमाण के वायु का अर्थ यम करना महा अन्याय है। जहां दोनों पद एक विभक्ति के साथ हो वहां विशेषण विशेष्य भाव करना होता है। वायुना यमेन ये दोनों पद तृतीयांत हैं इन में एक विशेष्य दूसरा विशेषण है। संसार में जो प्रसिद्धार्थ है उसको छोड़ कर अप्रसिद्धार्थ की कल्पना करनी मूढ़ता है। वायुना यह यम का विशेषण है (वायुना गमनवता गमनशीलेन) यह उसका अर्थ है। कल्पितयम तुम्हारा है गरुड़ पुराण का नहीं। गरुड़ पुराण में उसी यम का प्रतिपादन है जो वैदिक है।

स्वर्ग का विशेष लक्षण

२६४ पृष्ठ में स्वा० द० लिखते हैं कि "सुख विशेष स्वर्ग और...दुःख विशेष भोग करना नरक कहाता है। [स्वः सुखं गच्छति यस्मिन्स स्वर्गः। अतो विपरीतो दुःख भोगो नरक इति] दयानन्द! हम तुम से पूंछते हैं कि यह स्वर्ग नरक का लक्षण तुमने किस आधार पर लिखा है? किस वेद मंत्र में स्वर्ग नरक का ऐसा लक्षण लिखा है?

दशमसमुल्लासालोचन

इस में १७ पृष्ठ हैं॥ वेद के दो मंत्र पादमात्र हैं' आपस्तंव का १ सूत्र है। एक प्रमाण तैत्तिरीय आरण्यक का है, १ टुकड़ा वृद्ध चाणक्य का और आधा पद्य शार्ङ्गधर का है, २ पद्य महाभारत के हैं, २७ पूरे और ३ आधे मनु के पद्य हैं बस कुल मसाला इतना है। विज्ञापनानुसार साक्षि भूत ग्रन्थों की अधिकता और वेद मंत्र शून्यता इस समस्त समुल्लास को अमान्य ठहराती हैं। निम्नलिखित बातें इसमें आलोचनीय हैं।

बिरादरी से खारिज

योऽवमन्येत तेऽमूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥२।११

यह पद्य पृष्ठ ५१ में भी आया है। दोनों वार के अर्थों में स्वा० द० ने विरादरी से खारिज करने की आज्ञा दी है। धर्म के मूल भूत वेद औरस्मृति को जो नास्तिक "हेतुशास्त्राश्रय से" अर्थात् तर्क से न माने उसको "जातिवाह्य" जाति पंक्ति और देश से बाहिर कर देना चाहिये। जाति शब्द से यहां पर ब्राह्मणादि जाति भेद का ग्रहण है। मनुष्य जाति का नहीं क्योंकि मनुष्य जाति से खारिज करना ईश्वराधीन है

मनुष्याधीन नहीं। बिरादरी से खारिज करने की जो प्रथा है वह अति प्राचीन है और सनातन धर्म में अभी तक यह प्रथा विद्यमान है।

संस्कार द्विजों के होते हैं

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्यचेह च २।२६

२७१ पृष्ठ में स्वा० द० ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है "वैदिक पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अपने अपने संतानों का निषेकादि संस्कार करें जो इस जन्म और पर जन्म में पवित्र करने वाला है। वर्तमान समय में जिनको स्वा० द० ने स्वयं अपनी लेखनी से अंबष्ठ और सूद लिखा है वह समाज में आकर यदि अनधिकार चेष्टा करें तो स्वा० द० का कुछ दोष नहीं है। स्वा० द० ने १६ संस्कार केवल द्विजन्माओं के लिये लिखे हैं। संकीर्णवर्ग के लिये नहीं। संस्कार भी जीव का नहीं किन्तु "शरीर का" होता है जो मनु जी को अभिमत है।

शिखा उड़वादी

हिन्दू जाति में शिखा और सूत्र यह दो चिन्ह प्रधान माने जाते हैं। उसमें से शिखा स्वा० द० ने उड़वादी। २७२ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है, और इससे बुद्धि कम होजाती है" दयानन्द! तुमने यह बात किस वेदमंत्र के आधार पर

लिखी है ? शीघ्र बताओ ? इस तुम्हारे कथन से चूड़ाकरण संस्कार नष्ट होता है वा नहीं इसका भी उत्तर दो? और [केशश्मश्रु धारयता मग्रय भवति संततिः १ नीच केश श्मश्रुणा ब्राह्मणेन भवितव्यम् २ पंचमकें दशमक वा प्रत्यायुष्यम् ३ त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रु लोमनखान् संहारयेत् ४] इन वचनों की जिनका कि वेद भी विरोध नहीं करता है क्या संगति लगाते हो ?

नाम नहीं गया

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
तथा विप्रोनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति २।१५१

२७३ पृष्ठ में यह पद्य लिखा है । इसका अर्थ २७५ पृष्ठमें लिखते हुए स्वा० द० ने "विप्र" शब्द को छिपा कर मनुष्य शब्द का व्यवहार किया है जो प्रकरण विरुद्ध है । जिस प्रकार काठ का हाथी हाथीपन से नहीं गिरता, चर्मका मृग मृग ही कहा जाता है, उसी प्रकार बेपढ़ा ब्राह्मण—विप्र-ब्राह्मणपने से नहीं गिरता, क्योंकि वह जाति से संबंध रखता है । अथर्व के (१२ ४.२२) मंत्र में मूर्ख को भी ब्राह्मण माना है ।

समाज में हलचल मचानेवाले प्रश्न

२७३ पृष्ठ में स्वा० द० ने "जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं इसीसे "उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते" क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है" यह लेख लिखा है । इसका आशय क्या है ? (प्रश्न नं० २) २७८ पृष्ठ में स्वा० द० ने "जब स्वदेश ही में, स्वदेशी लोग व्यवहार न करते और परदेशी स्वदेशमें व्यवहार वा राज्य करें

तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता" यह लेख लिखा है। इसका क्या अभिप्राय है? (प्रश्न नं० ३) २८१ पृष्ठ में स्वा० द० ने "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होनेका कारण आपकी फूट......है। जब आपस में भाई २ लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है" यह लेख लिखा है। इसका आशय क्या है? (प्रश्न नं० ४) २८२ पृष्ठ में "स्वा० द० ने "जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारनेवाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः "आर्यों के" दुःख की बढ़ती होती जाती है" यह लेख लिखा है। इसका रहस्य क्या है?

प्रत्यक्ष में वेदविरोध

२७६ पृष्ठ में (प्रश्न) "द्विज अपने हाथ से रसोई बना के खावें या शूद्र के हाथ की बनाई खावें (उत्तर) शूद्र के हाथ की बनाई खावें" इस लेख में कोई प्रमाण नहीं है। जब तक कोई भी बात वेद मंत्र से सिद्ध न हो तब तक उसको दयानंद मानता नहीं है। हम इसके विरोध में वेद का एक मंत्र प्रमाण में देते हैं जो इस प्रकार है।

यद्वादासी आर्द्रहस्ता समंक्त

उलूखलं मुसलं शुंभतापः १२।११

अथर्ववेदके इस मंत्रमें दास शूद्र की स्त्रीके गीले हाथसे छुए हुए ओखली और मूसलको भी जलसे दुबारा धोने की आज्ञा है। जब काष्ठतक शूद्रके हाथ का छुआ हुआ अपवित्र माना गया है तब उसके हाथके बनाये भोजनको किस प्रकार पवित्र माना जाय? आपस्तम्ब के जिस सूत्र को देकर दयानन्द ने

सब को भ्रष्ट करने का इरादा किया है उसमें "संस्कर्तारः" इस पद का अर्थ केवल संस्कार शोधनं मार्जन साफ करना है। भूमि संस्कार पात्र संस्कार की तरह अन्नसंस्कार केवल अन्नको बीन छान कर साफ करना बता रहा है। पकाने का अर्थ इसमें किसी पद का नहीं है, "शूद्र के पात्र तथा उसके घरका पका हुआ अन्न आपत्काल के विना न खावे" २७६ पृष्ठ में यह स्वा० का लेख भी इसी बातको सिद्ध करता है॥

शूद्रका नवीन लक्षण

२७६ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "आर्योंके घर में शूद्र "अर्थात्-मूर्ख स्त्री पुरुष" पाकादि सेवा करें" दयानन्द! हम तुम से पूंछते हैं कि यह शूद्रका लक्षण तुमने किस वेद मंत्र के आधार पर किया है? किसी भी कोष में मूर्ख को शूद्र नहीं कहा है। क्यों अनर्थ करते हो।

प्रत्यक्ष में परस्पर विरोध

२७६ पृष्ठ में (प्रश्न) "शूद्रके छुए हुए पके अन्नके खाने में जब दोष लगाते हैं तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं (उत्तर) यह बात कपोलकल्पित झूंठी है क्योंकि जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत-दूध, पिसान, शाक फल मूल खाया उन्होंने जानों सब जगत भरके हाथका बनाया और उच्छिष्ट खा लिया" (इसका विरोध २८३ पृष्ठमें) (प्रश्न) जो उच्छिष्ट मात्र का निषेध है तो मक्खियोंका शहद,बछड़ेका उच्छिष्ट दूध,और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है पुनः उसको भी न खाना चाहिये (उत्तर) शहद कथन मात्र ही उच्छिष्ट होता है परन्तु वह बहुत सी ओषधियों का सार होने से ग्राह्य है॥ बछड़ा अपनी मा के बाहिर का दूध पीता है

भीतर के दूध को नहीं पी सकता इसलिए उच्छिष्ट नहीं... और अपना उच्छिष्ट अपने को विकार कारक नहीं होता" इस लेख में कितना अंतर है इसका विचार हम पाठकों पर छोड़ते हैं। २७८ पृष्ठमें दूध उच्छिष्ट हो गया और २८३ पृष्ठमें वही दूध पवित्र हो गया क्या। क्या कहना है?

कुछ सोचकर लिखा होता

२७१ पृष्ठमें (प्रश्न) फल मूल कंद और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं मानते (उत्तर) वाह जी वाह! सत्य है जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूल राख खाते? गुड़ शक्कर मीठी लगती है, दूध घी पुष्टिकारक हैं, इसलिये यह मतलब सिंधु क्या नहीं रचा है" दयानन्द! यह मज़ाक तुमने किनका उड़ाया? अपना या औरों का? क्या तुमने मीठा दूध घी नहीं खाया? यदि खाया तो मतलब सिंधु तुम्हारा नहीं है? मतलब अपना बनाते जाना और मजाक औरों का उड़ाना? यही तो तुमने सीखा है और सीखा ही क्या है।

प्रत्यक्ष में वाक्छल

२८३ पृष्ठमें (प्रश्न) कहो जो मनुष्य मात्र के हाथ को की हुई रसोई के खाने में क्या दोष है?... (उत्तर) दोष है, क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने पीने से "ब्राह्मण और ब्राह्मणी" के शरीर में दुर्गंधादि दोष रहित रजवीर्य उत्पन्न होता है "वैसा चांडाल और चांडाली" के शरीर में नहीं...इस लिये "ब्राह्मणादि" उत्तम वर्णोंके हाथका खाना और चांडालादि नीच भंगी चमार आदि का न खाना" ॥ छांदोग्य में उत्तम वर्ण तीन को माना है। २७९ पृष्ठमें शूद्र तक आप रहे अब धीरे

धीरे भंगी तक आगए इसीको तरक्की कहते हैं ॥ जब आपके मतमें शूद्र पाकके लिये नियत हो चुका फिर मनुष्य मात्र का प्रश्न ही क्यों उठाया ? एक ही प्रकरण में "ब्राह्मण ब्राह्मणी" लिखते हुए चौथी पंक्तियोंमें "ब्राह्मणादि" कर देना वाक् छल नही तो और क्या है ?

एक पंक्तिमें भोजन का निषेध

२८२ पृष्ठमें (प्रश्न) एक साथ खानेमें कुछ दोष है वा नहीं ? (उत्तर) दोष है क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती " यह तो दयानन्द का लेख है और इसमें देवलस्मृति का [आलापस्पर्शनिश्वासात्सह यानासनाशनात् । याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमतेनृणाम् ॥] येह प्रमाण भी है ॥ परन्तु उसके विरुद्ध हमने गुरु कुलों में, समाजों के उत्सवोंमें, सबको एक ही पंक्तिमें बैठकर भोजन करते देखा और चमारों को, सुनारों को, कलवारों को, परोसते देखा । इसीसे कईबार लड़ाई तक नौबत पहुँच गई। इसका अधिक उल्लेख हम ग्रंथांतरमें करेंगे ।

नरमांसभक्षणविधि

२८२ पृष्ठमें "जो हानिकारक पशु वा " मनुष्य " हों उनको दंड देवे और प्राणसे भी वियुक्त करदे (प्रश्न) फिर क्या उन का मांस फेंक दें ? (उत्तर) चाहे फेंक दें, चाहें कुत्तेआदि को खिलादेवें, वा जलादेवें "अथवा कोई मांसाहारी (मनुष्य) खावे तो भी संसारकी कुछ हानि नहीं" किन्तु उस "मनुष्य" का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है" यह लेख है । क्या कहना है ! मनुष्य को यदि आपसमें मनुष्य खाने लगें तो दयानन्द की राय से संसार की कुछ हानि नहीं

है। कहो मुण्डो जी ! इस समय तुम किस नशे में पड़े हो ? जिसको तुमने पहिले ही मांसाहारी लिख दिया उसका अब क्या स्वभाव बिगड़ेगा ? जो कुछ बिगड़ना था वह तो पहिले ही बिगड़ गया एक बार उसको नरमांस खिला कर फिर आप स्वभाव बिगड़ने की चिन्ता में डूब गये ? बलिहारी है !

स० प्र० में गोमांसभक्षण विधि

प्रथम संस्करण के ३०३ पृष्ठ में "जहां गो मेधादिक लिखे हैं वहां पशुओं में नरों को मारना लिखा है ..क्यों कि जैसे पुष्ट बैलादिक नरों में है वैसो स्त्रियों में नहीं है, और एक बैल से हजार गैया गर्भवती होती हैं इससे हानि भी नहीं होती सोई लिखा है [गोग्नुर्वध्योऽग्नीषोमीयः १] यह ब्राह्मण की श्रुति है। इसमें पुलिंग निर्देश से यह जाना जाता है कि बैल आदि को मारना गैया को नहीं... और जो वध्या गाय होती है उसका भी गोमेध में मारना लिखा है [स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत] यह ब्राह्मण की श्रुति है। इसमें स्त्रीलिङ्ग और स्थूलपृषती विशेषण से वंध्या गाय ली जाती है क्योंकि वंध्या से दुग्ध वत्सादिकों की उत्पत्ति होती नहीं...जो मांस खांय ..वे भी सब अग्नि में होम के बिना न खांवे, क्योंकि जीव को मारने के समय पीड़ा होती है, उस से कुछ पाप भी होता है फिर जब अग्नि में होम करेंगे तब परमाणु से उक्त प्रकार सब जीवों को सुख पहुँचेगा और एक जीव की पीड़ा से जो पाप भया था सो भी थोड़ा सा गिना जायगा" यह स्वा० द० का लेख है। इससे गो मांस से हवन करना और गोमांस खाना दोनों सिद्ध होते हैं। सनातनधर्म इस बात को नहीं मानता है।

चौका लगाना ठीक है

२७८ पृष्ठ में "जहां भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूड़ा करकट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये" २८६ पृष्ठ में "मिट्टी और गोबर से जिस स्थान का लेपन करते हैं वह देखने में अति सुन्दर होता है...इस लिए "प्रति दिन" गोबर मिट्टी झाड़ू से सर्वथा शुद्ध रखना और जो पक्का मकान हो तो जल से धो कर शुद्ध रखना चाहिये" (प्रश्न) चौके में बैठ के भोजन करना अच्छा या बाहर बैठ कर ? (उत्तर) जहां पर अच्छा रमणीय "सुन्दर" स्थान दीखे वहां भोजन करना चाहिये" इस लेख में चौके का माहात्म्य गाया है और गोबर का चौका "अति सुन्दर" कहा गया है इसी लिए ब्राह्मण लोग गोबर का चौका लगा कर भोजन बनाते हैं। परन्तु वर्तमान समाजी उन्हें पोप कहते हैं। वास्तव में यह उनकी नीचता है।

क्या ही अच्छा उपदेश है

२८७ पृष्ठ में (प्रश्न) जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो तो अपने गोबर (पाखाने) से चौका क्यों नहीं लगाते (उत्तर) गाय के गोबर से वैसा दुर्गंध नहीं होता जैसा कि मनुष्य के मल से। दयानंद ! तेरी तर्क शक्ति को बलिहारी है ? इस तर्क के लिए पैसे की रेवड़ी यदि समाजी बटा दें तो आनन्द हो जाय ? गू-गोबर जब एक है केवल दुर्गंध का ही भेद है तो एक बार यह काम समाजों में करना जरूर चाहिये। दुर्गंध उठने पर "हवन" कर दिया जायगा क्यों कि उसका फल ही दुर्गंधनिवारण है।

प्रमाण कुछ नहीं

२८४ पृष्ठ में "महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा ऋषि महर्षि आए थे। एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे"। ऐसा लिखा है। परन्तु इसमें प्रमाण कुछ नहीं है। बिना प्रमाण के दयानन्द की बात केवल उन्मत्त प्रलाप के समान है इस लिए मानने योग्य नहीं।

समाप्तमदःपूर्वार्धम्

एकादशसमुल्लासालोचन

इस में १३२ पृष्ठ हैं। वेद के दो मन्त्र पूरे और ६ बाकी छोटे छोटे टुकड़े हैं। सात मंन्त्र शतपथ के और १४ उपनिषदों के हैं। एक प्रमाण वाल्मीकि का और एक महाभारत का है। ६ पूरे १० अधूरे मनु के पद्य हैं। १ सूत्र अष्टाध्यायी का और १८ सूत्र दर्शनों के हैं। २ श्लोक वृद्ध-चाणक्य के और १ भोजप्रबन्ध का है। पाण्डवगीता और निरुक्त के नाम से भी १। १ प्रमाण दिया है परन्तु वह उन में नहीं है। एक श्लोकांश ग्रहलाघव का और २ पद्य चारवाक के हैं। तन्त्र ग्रन्थों के १७ प्रमाण हैं। भागवत के नाम से ४ प्रमाण दिये हैं। साढ़े सात पद्य हेमाद्रि के नाम से दिये हैं। रामानुजपटलपद्धति का १ प्रमाण और गोपाल सहस्र नाम के २ मन्त्र हैं। आठ पद्य सिद्धांत रहस्य के और १७ भाषा पद्य है। २१ फुटकर प्रमाण है जो ला पता हैं। कुल मसाला इतना है। निम्न लिखित बातें इसमें आलोचनीय हैं।

मनु का समय

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः २।२०

इस पद्य में ब्रह्मर्षि देश के अन्दर उत्पन्न हुए अग्रजन्मा ब्राह्मण से अन्य देश के समस्त मनुष्य अपना अपना चरित्र

सीखें यह मनु जी की आज्ञा है। स्वा० द० ने २८६ पृष्ठ में लिखा है कि "यह मनुस्मृति जो सृष्टि की आदि में हुई है उसका प्रमाण है"। यदि दयानन्द की यह बात मानी जावे तो वेद और मनुस्मृति दोनों एक समय के माने जायंगे। वेद में [अहं मनुरभवं सूर्यश्च अहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः] इस मन्त्र के द्वारा ईश्वर ने ही रूपांतर धारण कर मनु का जन्म प्राप्त किया यह सिद्ध होता है। ईश्वर कहता है कि 'अहं मनुः अभवम्' मैं ही मनु हुआ 'सूर्यश्च' सूर्य भी मैं ही हुआ। मैं कक्षीवान ब्राह्मण ऋषि हूं। यह सब विभूति वर्णन गीता की तरह भगवान वेद में भी है। इसी लिए 'मनुमन्येप्रजापतिम्' ऐसा मनु ने भी लिखा है।

शिशुमारचक्र

२९३ पृष्ठ में जिस शिशुमारचक्र का दयानन्द ने उल्लेख किया है यह चक्र आज कल आर्यसमाज की संस्थाओं में प्रचलित हो रहा है। इस चक्र में दीक्षा लेने की वेला में 'पायुंते शुंधामि' और 'जंभेदध्मः' इन दो मूल मंत्रों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करना पड़ता है। इसका दीक्षा स्थल गुरुकुल मात्र है। अभी (सनातनधर्म पताका) में कुरुक्षेत्र के गुरुकुल का एक दीक्षा वृत्तांत छपा है जिसमें यज्ञ के गुप्त रहस्य को दवाने का प्रयत्न किया गया है।

महाभारत क्यों हुआ

२९३ पृष्ठ में 'जब बड़े बड़े विद्वान राजा महाराजा ऋषि महर्षि लोग महाभारत के युद्ध में मारे गये . तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला' यह स्वा० द० का लेख है। हम पूछते हैं कि यह महाभारत हुआ क्यों? वेद में

"अक्षैर्मा दीव्यः" ऐसा स्पष्ट द्यूतनिषेध है। मनु में भी 'तस्माद्यूतं न सेवेत' इस प्रकार जुआ खेलने का निषेध है। फिर युधिष्ठिर ने धर्मराज कहाते हुए भी अनेक ऋषियों के मने करने पर जुआ क्यों खेला ?

ब्राह्मणों की निंदा का फल

२६३ पृष्ठ से लेकर २६६ पृष्ठ तक सिलसिलेवार दयानन्द ने ब्राह्मणों को अनेक कुवाक्य कहे हैं जिनको जन्म का ब्राह्मण कदापि नहीं सह सकता है। कुवाक्य कहने का फल भी दयानंद को अंत समय में मिल गया। शरीर फूट गया विष दिया गया। वेद में—

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु

गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।

यो ब्राह्मणं देवबंधुं हिनस्ति

न स पितृयानमप्येति लोकम् ५।१८।१३

यह मंत्र लिखा है। इसका अर्थ इस प्रकार है। देव निंदक जन मनुष्यों में मारा २ फिरता है। रोगी होता है। अस्थिमात्रावशेष रह जाता है और जो देवताओं के बंधु तुल्य ब्राह्मण को मारता है वह पितृयान मार्ग से कदापि नहीं जा सकता है। छांदोग्य में "ब्राह्मणान्न निंदेत् तद्व्रतम्" यह कितना स्पष्ट लिखा है। ब्राह्मणों की कभी निंदा नहीं करनी चाहिये। [ये देवा दिविषदो अंतरिक्षसदश्च ये ये केच भूम्यामधि १०।६।१२] अथर्व वेद के इस मंत्र में भूदेव, अंतरिक्षदेव, द्युदेव, तीन प्रकार के

देवतों का वर्णन है। उनमें भूदेव ब्राह्मण है, अंतरिक्षदेव सूर्यादि हैं, द्युदेव इंद्रादि हैं। इसलिये भूदेव ब्राह्मण की कदापि निंदा न करनी चाहिये, [यदन्ये शतंयाचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्। अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा] अथर्व वेद के इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार है। गोपति यजमान के पास जाकर यदि अन्यमूर्ख सौ ब्राह्मण गौ मांगें तो देवताओं के कथनानुकूल उनमें विद्वान ब्राह्मण के लिए गौ देनी चाहिये (१२।४।२२) इस मंत्र में मूर्ख को भी ब्राह्मणत्व से गिराया नहीं गया। मूर्ख को भी ब्राह्मण कहा है। नाम मात्र के सभी ब्राह्मण होते हैं क्योंकि पढ़ने से पूर्व नामकरण संस्कार होता है। नाम जाति के अनुकूल शर्मा आदि धरा जाता है इसलिए नाम मात्र के सभी ब्राह्मण वंदनीय हैं। पूजनीय हैं।

पांडवगीता में दिखाओ

उषः प्रशस्यते गर्गः शकुनन्तु बृहस्पतिः॥
अंगिरा मनसोवेगं ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः ।१।

इस पद्यमें गमनके मुहूर्त पर अनेक ऋषियोंका मत दिखाया गया है। गर्ग के मत में गमन के लिये उषः काल प्रशस्त है, बृहस्पति के मत में शकुन देख कर चलना प्रशस्त है, अंगिरा के मत में जब मन में प्रसंनता हो तब जाना श्रेष्ठ है। जनार्दन के मत में ब्राह्मण की आज्ञा से गमन करना श्रेष्ठ है, दयानंद ने इस पद्य को २६४ पृष्ठ में पांडवगीता के नाम से दिया है। हम दयानंदी दल को "डवलचेलेंज" देते हैं कि वह इस पद्य को पांडवगीता में दिखादे ?

समाजी डवलपोप हैं

२६४ पृष्ठ में (प्रश्न) पोप किसको कहते है (उत्तर) उसकी सूचना "रोमन" भाषा में तो वड़ा और पिता का नाम पोप है। परन्तु अव छल कपट से दूसरे को ठग कर अपना प्रयोजन साधने वाले को पोप कहते है" ऐसा लिखा है। जिस देशका जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उस शब्द से उसी अर्थ का ग्रहण करना उचित है। [एतस्मिन्नतिमहति शब्दस्य प्रयोग विषये ते ते शब्दास्तत्रतत्र नियतविषया दृश्यंते। तद्यथा। शवतिर्गतिकर्माकंबोजेष्वेव भाषितो भवति। विकारमेनमार्या भाषन्ते शवइति १।१।१] महाभाष्य के इस उद्धरण का यही अर्थ है। शब्दों का व्यवहार देश २ के भेद से भिन्न २ अर्थों में होता है। इसलिए जिस देश का जो शब्द जिस अर्थमें व्यवहृत हो उसी में उसका व्यवहार करना चाहिये। पोपशब्द हिंदुस्तान का नहीं किन्तु "रोमन" का है। रोमन में इस शब्द से वड़े को अथवा पिता को संबोधित करते हैं। अव रही छल कपट की वात उसके लिये समाज पर्याप्त है। करांची के (सिन्धु समाचार) में देखा होगा कि एक जन्म के यवन ने शुद्ध होकर एक ब्राह्मणी को फुसला कर अपने हाथ किया। क्या यह छल नहीं है? कणाद गौतम पैदा करने के बहाने से गुरुकुलों में आए हुए धन का उपभोग करना ठगपना नहीं तो क्या है। वेद का वहाना करके गुरुकुलों में सत्यार्थ- प्रकाश पढ़ाना छल नहीं तो क्या है? वेश्याओं को शुद्ध कर (जैसा कि सिंधुसमाचार) में छपा है हिंदुओं के गले मढ़ना यदि कपट नहीं तो क्या है? इसलिये समाजी ही डवलपोप हैं, सनातनी नहीं।

वाममार्ग पर विचार

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं
शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ७।१०३।५

ऋग्वेद के इस मंत्र में मंडूकोपाख्यान का प्रसंग चला आ रहा है। इसमें मंडूकों का आपस में संभाषण शाक्तों जैसा उपमा में दिया है। शक्ति के उपासक "शाक्त" कहलाते हैं। वाम शब्द का अर्थ यहां पर प्रसंग से "सुन्दर" है। सुन्दर मार्ग को वाम मार्ग कहते हैं। वेद में जिसका वर्णन बीजरूप से मिलता हो वह अवश्य सुंदर मार्ग है। स्त्री का भी लोक में "वामांगी" नाम प्रसिद्ध है। क्योंकि वह स्वभाव से सुंदरांगी होती है। स्त्री पुरुष का अर्द्धभाग है इसलिये वाम भाग को भी उलटा भाग न कह कर सुंदर भाग कहते हैं क्योंकि वह भाग पुरुष में स्त्री का प्रतिनिधि है।

समाज से वाममार्ग अच्छा है

शक्ति के उपासकों का जो उपासना क्रम है उस पर आक्षेप करना मूर्खपन है। हरेक मत में कुछ खास खास बातें होती हैं जिनका उस मत में दीक्षित पुरुषों के लिये पालन करना अत्यावश्यक होता है। जिस समाज में नियोग के बहाने से..."पायुंते शुंधामि" के द्वारा...'अंभेदध्मः" के बहाने से..."वृषणमांडाभ्याम्" के बहाने से... विद्यमान हो वह भी वाममार्ग पर आक्षेप करे यह कितनी लज्जा की बात है। तंत्रशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में "पारिभाषिक" जो शब्द

है उनका अर्थ न जान कर दयानन्द ने जो आक्षेप किया है वह बड़ा अन्याय किया है। देखिये—

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमंपदम् ३।१०८

इडा भगवती गंगा पिंगलायमुनानदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडास्तिकुंडली ११०

गोमांसंभक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।
कुलीनंतमहंमन्ये तदन्ये कुलघातकाः ३। ४७

गोशब्देनोदिताजिह्वा तत्प्रवेशोहितालुनि।
गोमांसभक्षणंप्रोक्तं महापातकनाशनम् ४८

जिह्वाप्रवेशसंभूतवन्हिनोत्पादितःखलु।
चन्द्रात्स्रवतियःसारः सस्यादमरवारुणी ४९

हठयोग प्रदीपिका में ये पद्य हैं। इनमें "बालरंडा गोमांस वारुणी" इन शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनमें "बालरंडा" कुंडली नाड़ी है। तालु देश में लगी हुई जिव्हा "गोमांस" है, तालु से टपका हुआ जल "वारुणी" है। इस बात को न जान कर जो सामान्यतया इन शब्दों पर आक्षेप करे उसको किन्नर के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। इसी प्रकार [मातृयोनिंपरित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ॥ १ ॥] इस तंत्रशास्त्र के मंत्र का अर्थ कुछ और ही है। दयानन्द ने उसको समझा

तक नहीं है समझे कहां से ? किसी से पढ़ा हो तब ? अंध-गुरु के शिष्य में यही तो अंधापन है, इसमें "मातृयोनि" का अर्थ मातृकुल है। माता के कुल की कन्या को छोड़कर और सजातीय कन्याओं के साथ विवाह करके विहार करना यह सिद्धान्त है। मनुस्मृति में भी मातृकुल के छोड़ने का आदेश है। प्रकरण की संगति लगानी और बात है, खंडन करना और बात है।

पद्य का शुद्ध पाठ

हालां पिबन्दीक्षितमन्दिरेषु
सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु।
गृहेगृहे चर्वणमेव कुर्वन्
विराजते कौलिकचक्रवर्ती १।

२६६ पृष्ठ में दयानन्द ने यह पद्य अशुद्ध लिख कर तंत्र पांडित्य का जो अपूर्व परिचय दिया है वह शोचनीय है। तंत्र में "हाला" बिजली को कहते हैं "गणिका" मेघ माला को कहते हैं "चर्वण" विहार के अर्थ में आता है और कुलीन को (कौल) कहते हैं। इस पद्य के पूर्वापर प्रसग में पारद की सिद्ध गुटिका मुख में रख कर गगनविहार करने का निर्देश है जिसको न जानकर दयानन्द ने केवल उपहास मात्र किया है। हमारी अनुमति में पद्य का पाठ इस प्रकार होना चाहिये।

भंगांपिबन्कापड़िकालयेषु
सुप्तो रमायाः स्तनमण्डलेषु।

गृहे गृहे भोजनभंजनेच्छु—
र्स्वयंगतो दांभिकचक्रवर्ती ॥१॥

छोकड़ापन किसका है

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ५।५६

मनु के इस पद्य में जनता की साधारण प्रवृत्ति का वर्णन है। स्वभाव से मनुष्य इन बातों में प्रवृत्त होता है। परन्तु इनसे बचना अच्छा है इसीलिये "निवृत्तिस्तु महाफला" कहा है। दयानन्द ने पूर्वार्धका अर्थ करके उत्तरार्ध का अर्थ करना ही छोड़ दिया। २६७ पृष्ठ में दयानन्द ने "गवरगंड" कह कर शास्त्रों को याद किया है और ३०० पृष्ठ में अपना "छोकड़ापन" दिखाया है। ये दोनों शब्द हम दयानन्द को वापिस देकर पूछते हैं कि कहो गवरगंड दयानन्द! अब छोकड़ापन किसका है?

अब क्या होता है

प्रथम संस्करण के २०१ पृष्ठ में [अभक्ष्योग्राम्यशूकरः १ अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुटः २] लिखकर जंगली सूअर और मुरगे के मांस की सूचना दी फिर उसी के ३०८ पृष्ठ में चौगुना पानी और एक गुनी शराब का पीना बतलाया ३०३ पृष्ठ में गोमांस तक का विधान कर दिया अब आकर तेरहवें संस्करण के ३०० पृष्ठ में दया सूझी? क्या कहना है? इतना ही नहीं किन्तु प्रथम संस्करण के ३०२ पृष्ठ में पशु पीड़ा पर आप विवाद करते हुए हिंसा का समर्थन करने पर भी उतारू होगए।

तुमने खंडन क्यों न किया ?

३०१ पृष्ठ में "जब इन पोपोंका ऐसा अनाचार देखा... तब एक महा भयंकर वेदादिशास्त्रोंका निन्दक बौद्ध वा जैन-मत प्रचलित हुआ है" यह लेख है। इसी के प्रसंगमें गोरख-पुर के एक राजा का बनावटी किस्सा लिखकर अंत में [पशुश्चेन्निहतः स्वर्गम् १ मृतानामिहजंतूनाम्] ये दो चारवाक के पद्य दिये हैं। हम कहते हैं कि तुमने इन दो नास्तिकोंके पद्यों का खंडन क्यों नहीं किया ? यदि न किया तो तुम भी उन नास्तिकों के समकक्ष हो या नहीं ? अपने मतलब के जैन तक के श्लोक अखंडित रहें और सनातनधर्म के समर्थक वेदमंत्र भी छिपाए जावें ? भला इस छल का क्या ठिकाना है।

जगद्गुरु श्रीस्वामीशंकराचार्य

३०२ पृष्ठ में दयानन्द ने शंकराचार्य का वर्णन किया है परन्तु जो बात उनके लिये लिखी है उसका किसी ग्रन्थ में पता नहीं है। माधवाचार्य ने "शंकर दिग्विजय"नामक ग्रन्थ में इनका पूरा पूरा जन्म से लेकर आमरणांत वृत्तांत लिखा है। उसमें जहर देनेका नाम तक नहीं है। हां दयानंद को "नन्हीजान"ने अवश्य जहर दिलाया है जो सबको विदित है। शङ्कर के बराबर होने के लिये आप भी उन पर मिथ्या कलंक लगाने पर उतारू हुए हैं परन्तु "कहां महाराजा भोज और कहां गंगुआ तेली" यह कहावत यहीं आकर चरितार्थ हुई।

मेढ़की के पैर में नाल

घोड़ेके पैर में नाल ठुकता देख कर मेढ़की भी कहने लगी कि जरा मेरे पैरमें भी नाल ठोक देना। यही बात यहाँ पर है।

शंकर की महिमा न देख सकने के कारण दयानन्द ने हिर्स के मारे और तो कुछ बना नहीं ३०४ पृष्ठमें लिख दिया कि" जो जीव ब्रह्म को एकता, जगत मिथ्या शंकराचार्य का निजमत था तो वह अच्छा मत नहीं" वाहरी हिन्दी ! तूभी दयानन्द के पास आकर गन्दी होगई ? इनको जरा हिन्दी तो देखिये ? वाद मुद्दत के आपने "भाषा व्याकरणानुसार" इस को शुद्ध किया है। हम पूंछते हैं कि शंकर ने जो किया वह तो जगत् में विदित ही है परन्तु रे अंधशिष्य ! तुझको उनकी देखा देखी क्यों खुजली उठी ? प्रासाद पर वैठ कर कौए को भी गरुड़ बनने की सूझी। इसके वाद कई पत्रों में अंधाचार्य ने जो वकवास किया है उसका खंडन हमने ८।६ भाग के आलोचन में कर दिया है।

शैवों को गालियां

३१४ पृष्ठ में "यद्यपि शंकराचार्य के पूर्व वाममार्गियों के पश्चात् शैव आदि संप्रदायस्थ मतवादी भी हुए थे परन्तु उनका वहुत वल नहीं हुआ। महाराजा विक्रमादित्य से लेके शैवों का वल बढ़ता आया" यह लेख है। इसके वाद इसी पृष्ठ में "परन्तु जितने वामार्गी वेदविरोधी हैं उतने शैव नहीं" यह लिख दिया है। इसके वाद इसी प्रसंग में ३१५ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "उन निर्लज्जों को तनिकभी लज्जा न आई कि यह पामरपन का काम हम क्यों करते हैं" दयानन्द ! हम तुमसे पूंछते हैं कि जब तुमने जयपुर में शैव-मत का प्रचार करके हाथी घोड़े तक के गले में रुद्राक्षमाला धारण कराई थी उस समय तुम्हारी लज्जा कहां गई ? उस समय क्या तुम निर्लज्ज थे ? ज़रा हृदय पर हाथ रख कर

सच कहना ? "परंतु किन्तु" लगाकर क्यों दुनियाँ को धोखा देते हो !

भगवती की निन्दा

३१७ पृष्ठ में दयानन्द ने देवी भागवत का वर्णन करते हुए श्रीपुरकी स्वामिनी "श्री" का मज़ाक उड़ाया है। और इसी प्रसंग में अगाड़ी जाकर "वाहरे ! माता से विवाह नहीं किया और बहिन से कर लिया ? क्या इसको उचित समझना चाहिये" ऐसा लिखा है। वाहरे दयानन्द ! तुमको क्या होगया ? तुम आद्या शक्ति भगवती की भी मज़ाक उड़ाते हो, पुत्र होकर माता का नहीं नहीं जगन्माता का मज़ाक उड़ा रहे हो ? देखो

विद्याः समस्तास्तव देवि ! भेदा-
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।

संसार में जितनी विद्या हैं वह सब भगवती की ही कला हैं जितनी स्त्रियां हैं वह भी उसी की प्रतिनिधि हैं ! जब एक ईश्वर से यह सब कुछ जगतबना तो "अर्धेन नारी" इस मनु के प्रमाण से ईश्वर के सभी पुत्र पुत्री के समान है फिर विवाह आपस में क्यों होता है ? इसीलिये ऋषियों ने गोत्र बचा कर विवाह की आज्ञा दी है।

चक्रांकितों को गालियाँ

३२१ पृष्ठ में और ३२२ पृष्ठ में "अततप्ततनूः यह नख-शिखाग्रपर्यंत समुदायार्थक है इस प्रमाण करके अग्नि ही से तपाना चक्रांकित लोक स्वीकार करें तो "अपने अपने शरीर को भाड़ में झोंक के सब शरीर को जलावें" यह लेख गाली से भी

यह कर दयानन्द ने चक्रांकितों के लिये लिखा है जिसका चक्रांकितों को नोटिस लेना चाहिये। [वर्ण शब्दकादुरुपयोग] ३१६ पृष्ठ में "कंजरवर्ण" और ३२२ पृष्ठ में "चांडालवर्ण" दयानन्द ने लिखा है। यह दोनों शब्द वैष्णवों के पूर्वाचार्य शठकोप और मुनिवाहन के लिये कहे गए हैं, कंजर और भंगी दोनों वर्णसंकर हैं। इनके साथ में वर्ण शब्द का लगाना केवल हिंदुओंको चिढ़ाने के लिये किया गया है। शठकोप योगी थे। इसीलिये (विचचार योगी) लिखा है। योगी को कंजर बनाना कितना बुरा काम है इसका अंदाज़ लगाना हम पाठकों पर छोड़ते हैं।

मूर्तिपूजन पर विचार

३०२ पृष्ठ में "पाषाणादि मूर्ति पूजा की जड़ जैनियों से प्रचलित हुई...तीन सौ वर्ष पर्यंत...जैनों का राज्य रहा...इस बात को अनुमान से २५०० वर्ष व्यतीत हुए" यह दयानन्द का लेख विद्यमान है। यही बात अब फिर दुबारा ३२३ पृष्ठ में चलती है। (प्रश्न) मूर्तिपूजा कहां से चली (उत्तर) जैनियों से (प्रश्न) जैनियों ने कहां से चलाई (उत्तर) अपनी मूर्खता से...यह मूर्तिपूजा केवल पाखंड मत है...जैनियों ने चलाई है" इस लेख में जैनियोंको "मूर्ख" कह कर पुकारा है। भारत वर्ष में दयानन्द के अनुमान से २५०० और ३०० वर्ष जैनों को हुए हैं कुल मिला कर २८००वर्ष होते हैं। मूर्ति पूजा का अस्तित्व इससे पूर्व सिद्ध होता है। महाभारत में द्रोण की मूर्ति बना कर एकलव्य ने धनुर्वेद पढ़ा यह आख्यान है जिसको बने ५००० से अधिक समय हुआ है। वाल्मीकीय रामायण के उत्तर कांड में सर्ग ३१।४२ में रावणके जांत्रनटमय

लिंग का वर्णन है जिसको बने करोड़ों वर्ष हो गए। [जीविकार्थेचापण्ये] ५। ३। ६६ इस सूत्र में पाणिनिने और इसके भाष्य में पतंजलि ने भी प्रतिमा पूजन माना है जिसको बने ५०० से अधिक समय होगया है। इसलिये दयानन्द का अनुमान इस विषय में गलत है। मूर्तिपूजा सनातन है। जितनी मूर्तियां हैं वेसभी भगवान के चरण स्थानीय हैं। यह विचार १२८ पृष्ठ में गया है। जिन द्रव्यों की मूर्ति बनानी चाहिये उनका वर्णन [अश्मा च १८। १३] इस मंत्र में किया है। अथर्व के ११।६ २१ और ११।६।२३ मंत्र में पत्थर को भी ईश्वरसे उत्पन्न माना है। इसी लिये १६।२।६ में पत्थर को नमस्कार करना लिखा है। ऋग्वेद के ६।५८।८ मंत्र में अर्चन करने का विधान है।

अथैतामात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञम्
तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञइति। ११। १।८।३
यज्ञेनयज्ञमयजंत देवाः ३१।

शतपथ और यजुर्वेद के इन दो मंत्रोंमें यज्ञ स्वरूप ईश्वर की प्रतिमा का वर्णन है जिसके द्वारा यज्ञस्वरूप भगवान का भावुक यजन करते हैं। वेद में प्रतिमा शब्द कई वारा आता है जैसे [संवत्सरस्य प्रतिमाम् ३। १०।३ नतस्य प्रतिमाअस्ति] ३२। ३ इनमें पहिले मंत्र में आया हुआ प्रतिमाशब्द संवत्सरके नापने के लिये जो रात्रिरूप पैमाना है उसके अर्थ में है। निराकार कालके परिमाण के लिये साकार रात्रिका पैमाना वेदानुमत है, घड़ी भी इसबात का समर्थन करती है। दूसरे में आया हुआ प्रतिमाशब्द उपमानार्थक है अर्थात् ईश्वर की

मूर्तिके बराबर तत्सदृश तदुपम अन्य कोई मूर्ति नहीं है। इस लिये इन मंत्रों से प्रतिमाका खंडन नहीं किन्तु मंडन होता है [चक्रपाणये स्वाहा ५। १० शूलपाणयेस्वाहा ५। ११ किरणपाणयेस्वाहा ५। १२] सामवेदीय षड्विंश ब्राह्मणके ये मंत्र हैं स्वा० द० ने ६६ पृष्ठ में इसी ब्राह्मण का १। २ प्रमाण माना है उसमें विष्णु रुद्र सूर्यके आयुधोंके नाम पर आहुतियां दी गई हैं। आयुध निराकारके हाथमें आ नहीं सकता। यजुर्वेद के १६ अध्याय में "नमस्त आयुधाय" कहकर रूद्रके शूलको नमस्कार भी करना लिखा है। इन सभी वार्तोंसे मूर्तिपूजन वैदिक होने से अतिप्राचीन माना जाता है।

नामस्मरण वैदिक है

यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैव एतत् ३ नामवा ऋग्वेदः...नामैव एतत्। नामउपास्व ४ सयो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नोगतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ५ (छां० उ०)

नारद ऋषि के पूछने पर सनत्कुमार कहते हैं कि हे नारद! जो तू जानता है वह नाम के ही अन्दर है। नाम ही ऋग्वेद है। तू नाम की उपासना कर! जो नामरूप ब्रह्म को उपासना करता है उस का नाम की गति तक अधिकार होता है। वेद में भी—

मनामहे चारु देवस्य नाम १।२४।१

यस्य नाम महद्यशः ३२।३

इत्यादि मन्त्रों में नाम लेने के महत्त्व का प्रतिपादन मिलता है। अब दयानन्द की बात सुनिये। दयानन्द कहता है कि "नाम स्मरण मात्र से कुछ फल नहीं होता—जैसा कि मिशरी मिशरी कहने से मुंह मीठा...नहीं होता है" ३२४ अब इसी के आगे इसका विरुद्ध पाठ देखिए "(प्रश्न) क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है?...(उत्तर) नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं" ३२५। अब इस पर थोड़ा सा विचार कीजिए नीबू के नाम लेते ही मुंह में पानी उतरता है हम पूंछते हैं क्यों? यदि नाम में कोई शक्ति नहीं तो ऐसा क्यों होता है? "न्यायकारी" यह नाम वेद के किसी मन्त्र में नहीं है फिर तुम इस अवैदिक नाम को क्यों लेते हो? वेद में कहीं पर भी "ईश्वर नाम माला" नहीं है। जो नाम तुम ने स० प्र० के १ भाग में लिखे हैं वे सब पौराणिक हैं। "चोरी और सीना जोरी" हमारे ही नाम ले कर हमको उपदेश देते हो? लज्जा नहीं आती? खबरदार।

मन्दिरनिर्माण वैदिक है

यजुर्वेद के "इष्टापूर्तेसंसृजेथाम्" १५।५४ इस मन्त्र में इष्ट और पूर्त का नाम आता है। अत्रि स्मृति के ४४।४५ पद्य में अग्निहोत्रादि कर्म को इष्ट कहा है और देव मन्दिर बगीचा कुआं का लगाना पूर्त कहा है। इष्ट पूर्त दोनों के वैदिक होने से देवमंदिरों का निर्माण वैदिक है।

व्यापक की मिट्टी पलीत

३२५ पृष्ठ में "किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना अन्यत्र न करना यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ा के एक छोटी सी

झोपड़ी का स्वामी मानना" यह दयानन्द का लेख है। हम पूछते हैं कि एक झोंपड़ी का स्वामी न मानना और सब राज्य का स्वामी मानना यह भी कितना अपमान करना है। सब का मालिक होते हुए ईश्वर झोंपड़ी का भी तो मालिक है। इस लिए एकत्र मानना भी सर्वत्र मानने का विरोधी नहीं है। दृष्टांत के लिए अग्नि और बिजली का उदाहरण हमने पूर्व लिख दिया है।

जिसकी जूती उसका सिर

३२८ पृष्ठ में "जब व्यापक मानते हो तो वाटिका में से पुष्प पत्र तोड़ कर क्यों चढ़ाते ? चंदन घिस के क्यों लगाते ? धूप को जला के क्यों देते ? इत्यादि" अब उनके इसी दृष्टांत को हम उन पर ही घटाते हैं देखिए। अग्नि और सामग्री में जब एक सा ईश्वर व्यापक है तो अग्नि में शाकल्य चढ़ाने का क्या मतलब ? हिमामदस्ता मूसली और सामग्री में जब एक सा ईश्वर व्यापक है तो उसको हिमामदस्ते में गेर कर ऊपर से धमाधम कूटने से क्या मतलब ? अन्न में और पेट में जब एक सा ईश्वर व्यापक है तब भोजन करने से क्या मतलब ! जब...और...उभयत्र ईश्वर व्यापक है तो...को...से रगड़ने से क्या मतलब ?

आंख खोल कर देखो

३२६ पृष्ठ में "वेदों में ..परमेश्वर के आवाहन और विसर्जन का एक अक्षर भी नहीं है,, यह स्वा० द० ने लिखा है। परन्तु—

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं
ब्रह्मवर्चसमह्य·दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् .१९।७१।१

इस मन्त्र से गायत्री का आवाहन और विसर्जन दोनों कार्य होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर का आवाहन होता है। मृतसंजीविनी विद्या से मुर्दे भी जिलाए जाते हैं। यह विद्या महर्षि याज्ञवाल्क्य को आती थी।

अपूर्व विधि

३२७ पृष्ठ में (प्राप्तौ सत्यां निषेधः) इसका तो दयानंद से कुछ उत्तर नहीं बना। अब आप लगे "अपूर्व विधि का" जाल फैलाने, हम कहते हैं कि वेद में कहीं पर भी [मूर्तिपूजनं न कुर्यात् १ निराकारं स्तुवीत २] इस प्रकार का स्पष्ट प्रतिपादन हम को नहीं मिलता है। यदि आप को ऐसा वाक्य वेद में मिल गया हो तो पता लिखिये ? नहीं तो आप का "प्राप्ताप्राप्तनिषेध" सड़ता रहेगा ? "विरोधेत्वनपेक्षंस्यादसतिह्यनुमानम्" दर्शन के इस प्रमाण से वेद में जिस का प्रत्यक्ष विरोध न हो उसके वेदानुकूल होने का अनुमान किया जाता है। अगर दम हो तो दर्शन के इस सूत्रका खंडन करो। ३२८ पृष्ठ में स्वा० द० ने लिखा है कि "पूर्ण परमात्मा न आता और न जाता है" परन्तु इसके विरुद्ध [प्रजापतिश्चरतिगर्भेअन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते] अथर्ववेद में यह मन्त्र मिलता है। इस में प्रजापति का अन्दर गर्भ में आना और जाना दोनों का प्रतिपादन है। (चरगतिभक्षणयोः) इस धातु की "चरति" क्रिया इसकी समर्थक है। कोई कोई मूर्ख चरति का अर्थ प्राप्त होना मानते हैं जो सर्वथा असंभव है। गमनार्थक सब धातु ज्ञान गमन प्राप्ति के परिचायक नहीं होते हैं क्यों कि "वेणृ गतिज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु १९ भ्वादि० आ०" इस धातु में गति से भिन्न ज्ञान का अलग

ग्रहण है। [गतिबुद्धि०] सूत्र में गत्यर्थक धातुओं से अतिरिक्त बुध्यर्थक धातुओं का पृथक् ग्रहण है। इस लिए चरति का आना-जाना और खाना सभी अर्थमूर्ति में घट जाता है।

दयानन्द का बुद्धि विकास

३२९ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "सीढ़ीसे चढ़े तो भवन पर पहुँच जाय, पहिली सीढ़ी छोड़ कर ऊपर जाना चाहैं तो नहीं जा सकता, इस लिए मूर्ति प्रथम सीढ़ी है।... जैसे लड़कियां गुड़ियों का खेल तब तक करती हैं कि जब तक सच्चे पति को प्राप्त नहीं होती" इत्यादि ॥ ३३० पृष्ठ में आप इसी का खंडन करते है ॥ "मूर्ति पूजा सीढ़ी नहीं किन्तु एक बड़ी खांई है, जिसमें गिर कर चकना चूर हो जाता है। पुनः उस खांई से निकल नहीं सकता, किन्तु उसी में मर जाता है" दयानन्द की बुद्धि यहां आकर चकरा गई। सवाल कुछ और जवाब कुछ, सीढ़ी पर चढ़ने के दृष्टांत को आपने छुआ तक नहीं। जवाब तब होता जब बिना सीढ़ी के चढ़े मकान के ऊपर पहुँचना आप सिद्ध करते, सो तो कर न सके? लगे इधर उधर की बकने!

निराकार सांचे में ढला

३३० पृष्ठ में "मूर्ति गुड़ियों के खेलवत् नहीं किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास ..का होना [गुड़िया के खेलवत्] ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है" साकार मूर्ति को गुड़िया न मान कर साकार (अ-इ-उ) इन अक्षरों को गुड़िया मानना दयानन्द की विचित्रता है। खैर! हमारी गुड़िया न सही आप ही की सही! गुड़िया तो रही! अब जरा अपनी गुड़िया का हाल देखिए कैसे नाचती

है ! (ॐ) यह निराकार ईश्वर का नाम आप मानते हैं, कागज पट्टी या पत्थर पर खुदा ॐ चेतन नहीं किन्तु जड है। यह सांचे में ढल कर दो दो पैसे को बिकता है, प्रेस में छपने के समय उस पर कई रंग बिरंगे रगड़े लगते हैं। कंपोजीटर निराकार ॐ के पुजारी करक्शन के समय उस का अङ्ग भङ्ग कर देते हैं। आप ॐ की इतनी दुर्दशा करा कर फिर उस निराकार को बीच बाजार में बिकवाते हैं। जरा कहो तो सही यह गुड़ियों का खेल कैसा ?

मूर्ति पूजन पर १६ आक्षेप

३३० पृष्ठ से लेकर ३३२ तक दयानन्द ने मूर्तिपूजन के ऊपर सारा जोर लगाकर सोलह आक्षेप किये हैं जिनका उत्तर देना अत्यावश्यक है। हम उनका सारांश लेकर सूक्ष्मरूप से उत्तर लिखते हैं। उनमें पहिला आक्षेप यह है कि "साकारमें मन स्थिर कभी नहीं हो सकता" (इसका उत्तर) जब यही बात है तो आपने १६६ पृष्ठ में नाभि हृदय कंठ नेत्र शिखा और रीढ़की हड्डीमें मनको स्थिर करनेका आदेश क्यों किया ?

आक्षेप नं० २

मंदिरों में करोड़ों रुपेका व्यय होना, उससे दरिद्र बनना और मंदिरों में प्रमाद होना, (इसका उत्तर) समाज के मकानों में लाखों रुपया व्यय करके "शकटमल" जैसे रईस क्यों दरिद्र हुए ? और उस मकान में अब सरे बाज़ार "लकारोपासना" क्यों होती है ?

आक्षेप नं० ३

मंदिरों में स्त्रीपुरुषों का मेला होने से व्यभिचार का होना और रोगोंका पैदा होना (इसका उत्तर) गुरुकुलोंके मेलेमें दिन

रात...और मलेरिया प्लेग क्यों होता है। कुरुक्षेत्रके " पायुंतें शुन्धामि" का वृत्तान्त पत्रोंमें प्रसिद्ध हो गया है।

आक्षेप नं० ४

चतुर्वर्ग फलप्रद मानकर पुरुषार्थ रहित होना (इसका उत्तर) समाजी भी समाज को सब कुछ मानकर उसीके ऊपर भरोसा करके क्यों मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाते हैं। क्यों नहीं वेदोक्त दे वाराधन करते हैं? सावित्री और कर्मचन्द्र की उपासना क्यों समाजमें होती है?

आक्षेप नं० ५

संप्रदाय भेद से एकमत न होकर आपसमें द्वेष का बढ़ना (इसका उत्तर) समाज में मांसपार्टी, घासपार्टी, धवन पार्टी, दर्शनानन्द पार्टी, बाबूपार्टी, यह मतभेद क्यों है? और उनमें आपस में एक दूसरे का जानी दुश्मन क्यों है?

आक्षेप नं० ६

मूर्तिपूजक "भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहेके समान" होते हैं (इसका उत्तर) दयानंद के पिताअंबाशंकर मूर्तिपूजक होने से क्या थे? दयानन्द उनका बच्चा क्या हुआ?

आक्षेप नं० ७

परमेश्वर के नाम पर पत्थर रख कर अपना नाश कराना (इसका उत्तर) "यस्य पृथिवी शरीरं" इस प्रमाण से ईश्वर पृथिवी स्वरूप है। इसलिये आक्षेप निर्मूल है, परन्तु समाजी अपने नामोंका पत्थर गुरुकुलों में क्यों धरवाते हैं? दयानन्द

का चित्र, वेद पुस्तक रुपया नींवमें गाढ़ कर उसपर समाज के मकान का बुनियादी पत्थर क्यों रखते हैं ?

आक्षेप नं० ८

सनातनी देशदेशांतरों के मंदिरों में भटकते हैं (इसका उत्तर) श्रद्धाके बिना भटकना कहलाता है, श्रद्धापूर्वक देवदर्शन भटकना नहीं कहलाता है, समाजी लाहोर कांगड़ी वृन्दावन के मेलों मे दर्शनार्थ जाकर क्यों भटकते हैं ? क्यों वृथाधन,बरवाद करते हैं ?

आक्षेप नं० ६

दुष्ट पुजारियों को धनका देना (इसका उत्तर) समाजी प्रधान और मंत्री को धन देकर अंडे शराब क्यों उड़वाते हैं ? देखो (वेदप्रकाश) में बरेली समाज का वृतान्त ।

आक्षेप नं १०

मातापिता की सेवा न करके कृतघ्न बनना (इसका उत्तर) सनातन धर्म में ऐसा कोई नहीं है जो मूर्तिपूजन करता हुआ माता पिता की सेवा न करे, कई सनातनी तो प्रतिदिन माता पिता का चरणोदक लेते हैं। परंतु समाजी अपने माता पिता की सेवा प्रायः नहीं करते यह हमने स्वयं देखा है।

आक्षेप नं० ११

मूर्तियों के तोड़ने पर हाय २ करना (इसका उत्तर) धौलपुर में समाज का झोंपड़ा तुड़वाकर महाराना साहिबने उसकी जगह जब मकान बनवाया है, उस पर समाजी क्यों रोते हैं ? और बलरामपुर के मामले में समाजी क्यों हाय २ करते थे ?

आक्षेप नं० १२

पुजारी परस्त्रियों के साथ गमन करते हैं (इसका उत्तर) जिस पुजारी ने ऐसा काम किया उसका पूरा २ पता नाम धाम लिखिये ? विधवाश्रम नियोगाश्रम के होते हुए वेश्या तक को शुद्ध करके घर में गेरनेवाले समाजी ज़रा अपना मुंह देखें ! और सिंधु समाचार तथा पाटलि पुत्र का अवलोकन करें ?

आक्षेप नं० १३

स्वामी सेवक का भाव नष्ट होना (इसका उत्तर) गुरुकुल कांगडी में अधिष्ठाता के होते हुए प्रोफेसर पं० तुलसीराम एम० ए० आदि में परस्पर वैमनस्य क्यों हुआ ? जो कई पत्रों में छपा है।

आक्षेप नं० १४

जड़मूर्ति के देखने से आत्मा का जड़ होना (इसका उत्तर) यह आक्षेप उस पर हो सकता है जो प्रकृति का पूजक हो, हमारा लक्ष्य चेतन ईश्वर है प्रकृति नहीं। समाज में दयानंद का जड़ चित्र लगा कर समाजी क्यों देखते है ? दयानंद का ज़ड़त्व उनमें न आवे इसका क्या उपाय सोचा है ?

आक्षेप नं० १५

पुष्पादि का तोड़कर व्यर्थ नाश करना (इसका उत्तर) तुम समाजोत्सवों में फूलमाला खरीद २ कर क्यों नष्ट करते हो ? दयानंद के चित्र पर क्यों चढ़ाते हो ? फिर उनको लेकर क्यों सड़क की गंदी नाली में बहाते हो ? हम उनको नष्ट नहीं करते किंतु उनका जन्म सफल करते हैं ?

आक्षेप नं० १६

पुष्पों का मोरी में सड़ना (इसका उत्तर) किसी भी मंदिर में हमने मोरियों में पड़े हुए पुष्पों को सड़ता नहीं देखा हां समाजों में बहुधा हमने पुष्पों को सड़ते हुए देखा जिसमें १११ वर्ष के बाद बुहारी लगती है। देखो उदयपुर का समाज। जहां पर "नित्योत्सवेमंदिरम्" लिखा है। वहां वह आक्षेप स्वयं मोरी में पड़ कर सड़ जाता है। ये "शंका-समाधान" हमने संक्षिप्त किया है। इसका विस्तृत विवरण ग्रन्थान्तर में देंगे।

पंचदेवपूजा

३३२ पृष्ठ में "जो अपने आर्यावर्त में पंच देव पूजा शब्द प्राचीन परंपरा से चला आता है" उसका क्या अर्थ है (उत्तर) किसी प्रकार की "मूर्ति" पूजा न करना किन्तु "मूर्तिमान्" जो नीचे कहेंगे उनकी पूजा...करना" यह दयानन्द का लेख है। माता पिता आचार्य भाई इन पांचों की सेवा करना उपासना शब्द का विषय नहीं है। उपासना केवल ईश्वर की होती है जो शिव-विष्णु आदि के स्वरूप में हैं। मूर्ति के होते हुए मूर्तमान् बनता है, जिस प्रकार शरीरावच्छिन्न जीव मूर्तिमान है, उसी प्रकार प्रकृत्यवच्छिन्न ईश्वर भी मूर्तिमान् है।

आचार्योब्रह्मणोमूर्तिः पितामूर्तिः प्रजापतेः
मातापृथिव्यामूर्तिस्तुभ्रातास्वोमूर्तिरात्मनः

मनु के इस पद्य में आचार्य ब्रह्मा के स्थान में, पिता विष्णु के स्थान में, माता पृथिवी के स्थान में, सगा भाई आत्मा

के स्थान में प्रतिनिधि रूप से पूजनीय माना है। (२।२२६) पृथिवी ब्रह्मा, विष्णु-आत्मा इनका ही रूपांतर में पूजन होने से मूर्ति पूजाको यहाँ पर दयानन्द अपने मुख से स्वयं मानते हैं।

नैवेद्य की बात

३३३ पष्ठ में "इसको लोगों ने इसी लिये स्वीकार किया है कि जो माता पिता के सामने "नैवेद्य" वा भेट पूजा धरेंगे तो वे स्वयं खालेंगे और भेट पूजा लेलेंगे तो हमारे मुख वा हाथ में कुछ न पड़ेगा" यह दयानन्द का लेख है। इसके आधार पर कोई कोई मूर्ख भोजन घट जाने और भगवान के पुरीषालय का भी प्रायः प्रश्न किया करते हैं, जो केवल मूढ़ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वायु पुष्पों का गंध लेजाता है परन्तु गंध लेजाने पर भी पुष्प का वज़न नहीं घटता इसी प्रकार नैवेद्य के लगाने में भी उसके सूक्ष्मांश का भगवान् आदान करते हैं। रहा भगवान का पुरीषालय उसके लिये समाज के मकान पर्याप्त हैं। इसी लिये समाजी दुर्गन्धमिटाने को प्रति दिन उसमें हवन करते हैं।

युगल मूर्ति पर शङ्का

३३४ पृष्ठ में "जैसे स्त्री आदि की पाषाणादि मूर्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे वीत राग शांत की मूर्ति देखने से वैराग्य और शांति की प्राप्ति क्यों न होगी" (प्रश्न) जैसे स्त्री का चित्र वा मूर्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है, वैसे साधु और योगियों को देखने से शुभ गुण प्राप्त होते हैं" यह लेख लिखा है, दयानन्द ने यह आघात इतना जबरदस्त किया है कि इसके बदले दयानन्द को जो जो गाली दी जांय सब थोड़ी हैं। मंदिरों में शिवपार्वती, राधा कृष्ण सीताराम

लक्ष्मीनारायण की युगल छवि प्रायः हुआ करती है जो वास्तव में प्रकृति और पुरुष का निदर्शन है। दयानन्द कहता है कि मंदिरों में राधा, सीता, पार्वती, लक्ष्मी, इनका चित्र देखने से दर्शकों के हृदय में कामदेव उत्पन्न होगा इस लिए मूर्तिपूजन करना योग्य नहीं इस प्रश्न का हृदय में उठना इतना बड़ा पाप है जितना घोर से घोर अन्य कोई पाप नहीं। जब श्रृङ्गार युक्त सजी धजी माता को देख कर मनुष्य कामी नहीं होता है तब जगन्माता पार्वती सीता राधा और लक्ष्मी को देख कर कौन पापी काम के संकल्प को भी हृदय में ला सकेगा? इस लिए इन प्रकार के प्रश्न को उठा कर जो संसार में पाप फैलाना चाहते हैं उनका प्रत्येक समय में दर्पलन करना चाहिये।

धोका देने का नया तरीका

३२५ पृष्ट में "जिसने १२ वर्ष पर्यंत जगंनाथ की पूजा की थी व विरक्त हो कर मथुरा में आया था, मुझ से मिला मैंने उन बातों का उत्तर पूंछा था, उसने ये सब बातें झूंठ बताई" इस प्रकार का लेख है परन्तु यह लेख सर्वथा बनावटी और झूंठ है। इसी लिए पता नहीं लिखा है। वेद में—

अदो यद्दारु प्लवते सिंधोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुर्हणस्तेनगच्छपरस्तरम् ८।८।१३।२

जगन्नाथजी का इस प्रकार वर्णन मिलता है। इसका अर्थ इस प्रकार है। (सिंधोः पारे) समुद्र के तट पर (अपूरुषं) पुरुषभिन्न (अदोयद्दारु) यह जो जगन्नाथ स्वरूप काष्ठ मूर्ति (प्लवते) चलती है (दुर्हणः) दुःख से प्राप्तव्य (तदा-

रम्भ) उस जगन्नाथ का अर्चन आरम्भ कर (तेन) उस अर्चन के द्वारा (परन्तरं) परात्पर-परमेश्वर को (गच्छ) प्राप्त हो। सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र से यही आशय निकाला है। जिस का वर्णन वेद में हो दयानन्द उसका मज़ाक उड़ाता है, यही तो नास्तिकों का लक्षण है।

मन्दिरों की प्राचीनता

३३७ पृष्ठ में "इन्द्रद्युम्न वही है जिसके कुल के लोग अब तक कलकत्ते में हैं। वह धनाढ्य राजा और देवी का उपासक था। उसने लाखों रुपे लगा कर मन्दिर बनवाया था" ऐसा लेख है। दयानंद तुम तो कहते हो कि प्राचीन समय में देव पूजा नहीं थी। यह मन्दिर इंद्रद्युम्न का जो कि महाभारत के समय से पूर्व ही विश्वकर्मा ने बनाया कहां से निकला? होने को अभी सूर्यवंशी भी उदयपुर में विद्यमान हैं, इस से क्या? तुम अपने मुख से ही इन्द्रद्युम्न को देवी का उपासक मानते हो? फिर खंडन किस मुंह से करते हो?

रामेश्वर महादेव

३३७ पृष्ठ में "(प्रश्न) रामेश्वर को रामचन्द्र ने स्थापन किया है जो मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध होती तो रामचन्द्र मूर्ति स्थापन क्यों करते और वाल्मीकि जी रामायण में क्यों लिखते? (उत्तर) रामचन्द्र के समय में उस लिंग वा मंदिर का नाम चिन्ह भी न था। किन्तु यह ठीक है कि दक्षिण देशस्थ राम नामक राजा ने मंदिर बनवा लिंग का नाम रामेश्वर धर दिया है" यह लेख है। इस लेखमें रामचन्द्रके समय में मंदिर न था इस बात का कोई प्रमाण नहीं है? इसलिये यह लेख अमान्य है।

आगे का पीछे कर दिया

एतत्तु दृश्यतेतीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
"सेतुबन्धइतिख्यात" त्रैलोक्येनचपूजितम् २०
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
"अत्रपूर्वंमहादेवःप्रसादमकरोद्विभुः" २१

ये दोनों पद्य युद्ध कांड के १२५ सर्गमें हैं। दयानन्द ने इस में कितना छल किया है सो देखना चाहिये २१ का उत्तरार्ध तो ३३८ पृष्ठ में पूर्वार्ध करके छाप दिया है और बीस का तृतीय चरण २१ के उत्तरार्ध के स्थान में छाप दिया इस प्रकार "भानवती का कुनबा" एकत्र कर जनता को धोखा दिया है। वास्तव में इन दोनों पद्यों में समुद्र तटको "तीर्थ" कह कर "सेतुबंध" उस का नाम कहा है, और महादेव पदसे रामेश्वर का ग्रहण है। इस प्रसङ्ग में न वियोग का वर्णन है। न चातुर्मास्य का। और न भोजन की सामग्री का। दयानन्द ने यह सब ऊटपटांग बका है।

जान बची लाखों पाये

३३९ पृष्ठ में सोमनाथ पर महमूद गजनवी के आक्रमण का वर्णन करते हुए लिखा है कि (ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को लड़ने नहीं दिया) वास्तव में ब्राह्मण यदि वेद विरुद्ध मुहूर्त बताते तो आज क्षत्रियों का नाम भी न मिलता उन्होंने उनकी जान बचाई। वेद में

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।
सर्वैर्मे रिक्तकुंभान्परातान्त्सवितःसुव १९।८।४

यह मंत्र लिखा है। चलने के समय यदि कोई पीछे से बुलाता हो, या आगे पीछे दोनों ओर से बुलाता हो अथवा झगड़ा हो वा छींक हो या सामने खाली घड़े आवें तो जाने वाले को न जाना चाहिये। इतनी बातें अभीष्ट सिद्धि में विघ्न करती हैं। इनके होते हुए यदि ब्राह्मणों ने लड़ने वालों को रोका तो वेद की आज्ञा का पालन किया, बुरा क्या किया ?

बादशाह पर आक्रमण।

३४० पृष्ठ में—" जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर, मूर्तियाँ "अंग्रेजों ने" उड़ादी थीं तब मूर्ति कहाँ गई थी। प्रत्युत वाघेर लोगों ने वीरता की, और लड़े, शत्रुओं को मारा" यह लेख है। इस लेख में हम दयानन्द के हिमायतियों से पूछते हैं कि जरा उस मंदिर का नाम तो छपादें ? वह मंदिर कहां था ? किस देवता का था ? और किस लाड ने उसे तुड़वाया ?

वेदमें अयोध्या

अष्टाचक्रानवद्वारादेवानांपूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयःकोषःस्वर्गोज्योतिषावृतः॥

अथर्व वेद के १०।२। ३१ इस मंत्र में देवनगरी अयोध्या का वर्णन है। उसमें हिरण्मय कोष श्रीरामजी का अवतार है वह "स्वर्ग" अर्थात् स्वर्गलोक में जाने वाला है "स्वः नाकं गच्छतीति स्वर्गः"। दयानंद को इस बात का पता तक नहीं था इसी लिये ३४२ पृष्ठ में अयोध्या का स्वर्ग में जाना उसने मजाक में उड़ाया।

वृन्दावन पर हमला

३४३ पृष्ठ में दयानन्द ने वृन्दावन को वेश्यावन के नाम से याद किया है। वृंदावन भगवान की रासक्रीड़ा का प्रधान स्थल है इसी लिये—

आसामहोचरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
याद्दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ?

श्रीमद्भागवत में महर्षि व्यास ने ऐसा लिखा है। इस वृंदावन में भक्त जन लता वृक्ष बन कर भी भगवान के चरण रज का स्पर्श करना अपना परम सौभाग्य समझते हैं।

भगवान के भक्तों को येनकेन प्रकारेण मनसा वाचा कर्मणा कष्ट पहुँचाना दयानन्द का परम उद्देश्य है। इसीलिये उसने वृन्दावन को वेश्यावन कहा है। परन्तु दयानन्द के हिमायती वहां पर गु० कुल खोल बैठे हैं। हमारी अनुमति में उनका यह कर्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि वेश्यावन में "लव-लक्षी कुल" अथवा "मिरासी कुल" का होना उचित है। ब्रह्मचारी यदि वेश्यावन में रहेंगे तो व्यभिचारी अवश्य हो जावेंगे।

तीर्थ निन्दा

३५३ पृष्ठ में "यह मूर्ति पूजा अढ़ाई तीन सहस्र वर्ष के इधर २ वाममार्गी और जैनियों से चली है। प्रथम आर्यावर्त में नहीं थी, और ये तीर्थ भी नहीं थे" इस प्रकार का लेख

है। मूर्ति पूजा पर विचार पहिले जा चुका अब तीर्थों पर विचार करना है। जलावतार को तीर्थ कहते हैं, स्वा० द. ने जो ३४४ पृष्ठ में "नमस्तीर्थ्यायच" लिख कर जनता को धोखा देने के लिये अर्थ का अनर्थ किया है वह केवल उनकी जाल साजी है। वास्तव में यह मंत्र जलावतार को ही तीर्थ मान कर वर्णन करता है। देखिये-

नमः पार्यायचावार्यायचनमः।
प्रतरणायचोत्तरणायचनमः
तीर्थ्यायचकूल्यायचनमः १६।४२

यजुर्वेद के इस मंत्र में तीर्थ में अवस्थित रुद्रलिंग का वर्णन है। जलावतार को तीर्थ मानकर "पार्थ अवार्य प्रतरण उत्तरण कूल्य" इन विशेषणों का समावेश होता है, (अवार पाराद्विगृहीताद्विपरीताच्चे ति वक्तव्यम्) इसमें पार अवार पारा-वार ये तीनों शब्द नदी अथवा देवखातों में व्यवहृत होते हैं। इसी मंत्र में अगाड़ी (फेन्यायचनमः) भी लिखा है। गुरु में दोनों किनारे जलप्लवन कूल फेन इनके न होने से दयानन्द का अर्थ केवल बालचापल मात्र ठहरता है।

इमं मे गंगेयमुने सरस्वति
शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्यामरुद्वृधे वितस्तया
आर्जीकीये शृणुह्यासुषोमया १०।७५।५
सरस्वतीसरयुःसिन्धुरुर्मिभि-
र्महोमहीरवसा यंतु वक्षणीः॥

देवीरापोमातरः सूदयित्नवो-
घृतवत्पयो मधुमन्नोअर्चत १०।६४।८

ऋग्वेद के इन मंत्रों में गंगा यमुना सरस्वती शुतुद्री इरावती वितस्ता विपाशा सरयू सिंधु इन देव नदियों का वर्णन मिलता है। मनुस्मृति के "यमो वैवस्वतोदेवः" ८।९२ पद्य में भी गंगा और कुरुक्षेत्र को तीर्थ माना है। अथर्ववेद के "तीर्थैस्तरंति" १८।४।७ मंत्र में भी तीर्थ का वर्णन उपलब्ध होता है, वाल्मीकि रामायण के बालकांड ४५।२२ में गंगा का वर्णन है। अयोध्या कांड ५२।८२ में भागीरथी का विस्तृत वर्णन विद्यमान है। दयानन्द के मत से तीर्थ २५०० वर्ष से है। जिनका वर्णन वेद मनु रामायण तक में मिलता हो उनको नवीन बताना यदि मूर्खता नहीं तो और क्या है?

गुरु-निन्दा

३५६ पृष्ठ में "जो गुरु लोभी क्रोधी मोही और कामी होवे तो उसको सर्वथा छोड़ देना १ शिक्षा करनी २, सहज शिक्षा से न माने तो अर्घ्य पाद्य अर्थात् ताड़ना दंड ३, प्राण हरण तक भी करने में कुछ दोष नहीं" इस प्रकारका लेख है। दयानन्द! कहो तुमने अपने गुरु विरजानंदको कुछ शिक्षा दी या नहीं? अर्घ्यपाद्य भी तुमने उनका किया ही होगा?

तद्विज्ञानार्थंसगुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् १

उपनिषद में जिस गुरु के पास विनम्र भाव से हाथ में समिधा लेकर जाना लिखा है दयानन्द उसको पिटवाता है--

मरवाता है। हमारी राय में गुरुकुलों में यदि लड़के ऊपर लिखी दयानन्दाज्ञा का पालन करें तो बहुत अच्छा हो।

परीवादात्खरोभवति श्वावैभवतिनिन्दकः ।
परिभोक्ताकृमिर्भवति कीटोभवतिमत्सरी २।२०१

मनुके इस प्रमाण से गुरुदोषवादी गदहा बनता है, गुरु निन्दक कुत्ता होता है। गुरु का माल खाने वाला कीड़ा होता है और गुरु से ईर्ष्या करने वाला पतंग होता है, गुरुनिन्दकजो! कहो तुम किस योनि में जाओगे ! तुम्हारे लिये ४ योनियाँ हैं ? देख भालकर पसंद कर लो ? हमारी मानों तो फर्स्ट नँबर में ही रहो।

सृष्टिमें मतभेद

३४८ पृष्ठमें "शिवपुराण वाले शिवसे, विष्णु पुराण वाले विष्णुसे, देवी पुराणवाले देवी से...सृष्टिकी उत्पत्ति प्रलय लिखके पुनः एक एक से एक एक को भिन्न मानते हैं" (२) यह लिखा है। इसका उत्तर अष्टमसमुल्लासालोचन में हम लिख आये हैं ३४९ पृष्ठमें पुराणों पर जो विचार उठाया है उसका भी निबटारा हमने तृतीयसमुल्लासालोचन में कर दिया है।

गालियों का जंकशन

३५० पृष्ठमें "वाह रे वाह! भागवत के बनाने वाले! लालबुजकड़! क्या कहना, तुझको ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई ? निपट अन्धा ही बन गया ?...भला इन महा झूठ बातोंको वे अंधे, पोप, और बाहर

भीतर की फूटी आँखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं ? वा अन्य कोई ? इन भागवतादि पुराणों के बनाने हारे क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट होगए ? वा जन्मते समय मर क्यों न गए ?" इतना बड़ा गालियों का जंकशन-आप को-किसी पुस्तक में न मिला होगा ? देखिये ! किस बहार की गालियां है।

इनकी वापसी

"वाहरे वाह ! सत्यार्थ प्रकाशादि के बनाने वाले लाल बुजक्कड़ ! क्या कहना तुझको ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी शरम न आई। निपट (अंधे का चेला) अंधा ही बन गया।... भला इन महा झूठ बातों को वे अंधे पोप और बाहर भीतर कीफूटी आँखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं ? वा अन्य कोई ? इन सत्यार्थप्रकाशादि के बनाने हारे क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गए ? वा जन्मते समय मर क्यों न गए ?" त्वदीयंवस्तु००० तुभ्यमेव प्रदीयते इतिभावः।

दम हो तो दिखाओ ?

३५१ पृष्ठमें "कश्यपः कस्मात् पश्यकोभवति" यह वाक्य निरुक्त २।२ के पते से लिखा है ? परन्तु वहां पर है नही शरम हो तो दिखाओ ?

विचित्र जाल

३५३ पृष्ठ ये हिरण्य कशिपुके भक्तराज प्रल्हाद का वृत्तांत देकर उसीके प्रसंगमें लिखा हैकि "जो तेरा इष्टदेव राम सच्चा हो तो तू इसके पकड़ने से न जलेगा ? प्रहलाद पकड़ने को

चला मनमें शंका हुई, जलने से बचूंगा वा नहीं ? नारायण ने उस खंभे पर छोटी छोटी चींटियों की पंक्ति चलादी" यह लेख है परन्तु भागवत भरमें (चींटी रिंगने का) पता नहीं है, दयानन्द ने अपनी ओर से मिलाकर भागवत का बदनाम किया है। यदि समाजी कुछ दम रखते हों तो दिखा दें ?

सफ़ेदझूंठ

अक्रूरोपिचतांरात्रिं मधुपुर्यां महामनाः
उषित्वारथमास्थाय "प्रययौनन्दगोकुलम्"

[भा० द० अ० ३८ श्लो. १]

भगवानपिसंप्राप्तोरामाक्रूरयुतोनृप ।
"रथेनवायुवेगेन" कालिंदीमघनाशिनीम्

[भा. द. अ० ३९ श्लो० ३८]

श्रीमद्भागवत के दश मस्कंध में ये दोनों पद्य दो अध्यायों में अलग अलग हैं परन्तु "जगामगोकुल प्रति" यह पाठ भागवत भरमें नहीं है। स्वा०द० ने स० प्र० के ३५४ पृष्ठ में,

रथेन वायुवेगेन १

जगामगोकुलं प्रति २

यह पाठ भागवत के नामसे दिया है। जो बात भागवत में नहीं है उसको भागवत के नाम से लिख देना कितना बड़ा अपराध है। दयानन्द ने अपनी ओरसे नवीन पाठ बना कर यह सफेद झूठ बका है।

वोपदेव और भागवत

३५५ पृष्ठ "में यह भागवत वोपदेवका बनाया है, जिसके भाई जयदेव ने गीतगोविंद बनाया है" इस प्रकार का लेख है। परन्तु इस में प्रमाण कुछ नहीं है। वोपदेव ने जो भागवत का विषयानुक्रम लिखा है—वह छपा हुआ सर्वत्र मिलता है। विषयानुक्रम से यह बात सिद्ध नहीं होती है कि श्रीमद्भागवत भी वोपदेव का बनाया हो, कात्यायन ऋषि ने वेदका विषयानुक्रम "सर्वानुक्रमसूत्र" के नाम से लिखा है इससे वेद भी कात्यायन प्रणीत हो यह बात नहीं है। वोपदेवके बनाये विषयानुक्रम में—

श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं चमयेरितम् ।
विदुषा वोपदेवेन श्रीकृष्णस्ययशोन्वितम् ॥

न तो यह श्लोक है और न इसके आशय का दूसरा कोई पद्य है। यह सब दयानन्द की जाल साजी है।

नाम सादृश्य यदि इनकी सहोदरता में प्रमाण मान, जावे तो दयानन्द मोहनानन्द कृपणानन्द ये तीनों भाई क्यों न माने जावें?

लिंग से मत डरो

३५८ पृष्ठ में "शिवपुराण में "बारह ज्योतिर्लिंग" और जिनमें प्रकाश का लेश भी नहीं, रात्रि को बिना दीप किये "लिंग" भी अंधेरे में नहीं दीखते" यह लेख है? दयानन्द! कहो तो अंधेरे में दिखा दें? डरते क्यों हो? तुम्हें तो जिमीदार के लड़के का हर समय ध्यान रहता है, जिसका वर्णन "दयानन्द छल कपट दर्पण में" विद्यमान है।

जानश्रुति शूद्र नहीं था

३५७ पृष्ठ में "छांदोग्य में जानश्रुति शूद्र ने भी वेद रैक मुनिके पास पढ़ा था" यह लिखा है। यह वात सर्वथा असंवद्ध प्रलापके समान है। जानश्रुति जन्म का क्षत्रियथा शूद्र नहीं इसी लिये पूज्यपाद भगवान शंकराचार्य ने अपने भाष्य में [शूद्रवद्वा धनेनैवैनंविद्याग्रहणायोपजगाम, नतु शुश्रूषया ॥ नतुजात्यायंशूद्र इति ॥] ऐसा लिखा है इस पर आनन्द गिरि ने भी "जानश्रुतेः सति क्षत्रियत्वे कथं शूद्रसंबोधन मित्यत्राह ? कथमिति। न जातिशूद्रो जानश्रुतिः किन्तु क्षत्रियः" इस प्रकार लिखा है। वेदांतदर्शन के [क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात् १। ३। ३५] इस सूत्र में भी महामहिम पूज्यपाद व्यास देवने जानश्रुति को क्षत्रिय कहा है शूद्र नहीं कहा। इतने बड़े व्यास शंकर के समक्ष वेदशास्त्र शून्य दयानन्द का जो कथन माने और वह मूर्ख नहीं तो और क्या है? रहा "यथेमांवाचं" उसका उत्तर हमने ३। ७४ के आलोचन में दे दिया है।

वेदों में ग्रहविचार

३५७ पृष्ठ में दयानन्द ने "सूर्य चन्द्रमा मङ्गल बुध बृहस्पति शुक शनि राहु केतु" इन नवग्रहों का मजाक उडाया है परन्तु वेदों में ग्रहदशा का विस्पष्ट विवरण मिलता है। अथर्ववेद के—

शन्नो दिविचराग्रहाः १९। ९। ७
शन्नोग्रहाश्चांद्रमसाः
शमादित्यश्चराहुणा ॥
शन्नोमृत्यु धूमकेतुः १९। ९। १०

इत्यादि मंत्रों में "दिविचर" आकाश में घूमने वाले ग्रहों से भय होने पर शांति प्रार्थना की गई है। यदि भय नहीं तो प्रार्थना क्यों? चांद्रमस ग्रह बुध आदिका, और राहुकेतुका वेद में नाम क्यों? धूमकेतु को मृत्यु घातक क्यों लिखा? इस लिये वेदमें नवग्रह शांति का जो विधान हैं वह सत्य है। जबतक सामान्यग्रहदशा पर विचार न हो तबतक विशेष ग्रहफल पर विचार करना व्यर्थ है। समाज को चाहिये कि वेदमें यह मंत्र उड़ावें।

अष्टाविंशानि शिवानिशग्मानि सहयोगं भजंतुमे। योगंप्रपद्ये क्षेमं च क्षमं प्रपद्ये योगं च नमो होरात्राभ्यामस्तु १९। ८। २

इस मंत्र में २८ नक्षत्रों का निर्देश है। उनके नाम नक्षत्र सूक्त में विद्यमान हैं। इसके लिये हमारा [अथर्ववेदालोचन] देखिये। योग और क्षेम इन दो पदोंसे (योग क्षेम) शब्दोचना है। योग क्षेम का अर्थ सुखपूर्वक निर्वाह है। नक्षत्रों से सुख पूर्वक निर्वाह करने की वेद में प्रार्थना है और अहोरात्र के लिये नमस्कार है।

अन्नं पूर्वारासतां मे अषाढ़ा
ऊर्जं देव्युत्तरा आवहंतु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव
श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्॥

अथर्व वेद के इस मंत्र में पूर्वाषाढ़ नक्षत्र से अन्न की प्रार्थना की गई है। उत्तराषाढ़ नक्षत्र से पराक्रम की याचना

है, अभिजित् नामक नक्षत्र से पुण्य मांगा गया है, श्रवण नक्षत्र से पुष्टि की प्रार्थना है। यह प्रत्यक्ष में नक्षत्रों का फल वेद में लिखा है। मूल नक्षत्र को "मूलबर्हण" वंशोच्छेदक ६। ११०। १२ मंत्र में कहा है, इसकी शांति का भी अथर्व वेद में विधान है। उल्कापात भूकंप भूम्यवतार रुधिर श्राव का भय भी अथर्व वेद में कई मंत्रों द्वारा वर्णित है। संस्कार विधिके नाम करण संस्कार में तिथिदेवता नक्षत्रदेवता दयानंद ने भी लिखे हैं, उनके नाम से आहुतियाँ दिलवाई हैं। इसलिये दयानंदी इस पर विचार करें।

फलित सच्चा है

३५६ पृष्ठ में "जो यह ग्रहण रूप प्रत्यक्ष फल है सो गणित विद्या का है। फलित का नहीं। जो गणित विद्या है वह सच्ची और फलित विद्या "स्वाभाविक संबंध जन्यफल को छोड़ के" झूठी है" इस प्रकार लेख है। फलित सर्वदा गणित का ही परिणाम है। फलित का फलित कहीं होता ही नहीं है। ज्योतिर्विद् पहिले ग्रहगति का गणित करते हैं। उसका जो फल होता है वही फलित कहाता है। स्वाभाविक संबन्ध जन्य जो ग्रहों का फल है वह भी उपाय के होने अथवा न होने से घट बढ़ जाता है। जैसे सूर्य की गरमी को हटाने के लिए छत्र धारण किया जाता है। जो छतरी नहीं लगाता है उस को अधिक गरमी लगती है। यही दृष्टांत अन्यत्र भी समझ लीजिए। फलित में फेल होना गणित के कच्चेपन का फल है। गणित सच्चा होने पर फलित अवश्य सच्चा होता है।

अनवस्था दोष

३६० पृष्ठ में (प्रश्न) क्या गरुड़पुराण भी झूंठा है (उत्तर) हां असत्य है...ये सब बातें पोपलीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहाँ आते हैं...तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिये, कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें" यह लेख लिखा है। वास्तव में दयानन्दको इस व्यवहारमें कुछ भी परिज्ञाननहीं है। ईश्वर ने सब के न्याय के लिए एक ही न्यायालय बनाया है। उसी में सब की व्यवस्था हो जाती है। अन्यत्र जाने की कुछ जरूरत नहीं है। रहा गरुड़पुराण वह तो अथर्ववेद के प्रेतकल्प का विस्तृत भाष्य है। जो बात अथर्व वेदके मंत्रों में नहीं है उसका गरुड़पुराण में नाम तक नहीं है। जिसकी इच्छा हो वह मिलान कर के देख लेवें, पुस्तक दोनों ही सर्वत्र मिलती हैं।

मृतकों के प्रतिनिधि

३६० पृष्ठ में "श्राद्ध—तर्पण पिंडदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता किंतु मृतकों के प्रतिनिधि पोप जी के घर उदर और हाथ में पहुँचता है। हाथ तो यहीं जलाया वा गाड़ दिया गया फिर पूंछ को कैसे पकड़ेगा" यह लेख है। इसका विस्तृत विवरण श्राद्ध प्रकरण में पहिले आ चुका है। मरे हुए दयानन्द की प्रतिनिधि, प्रतिनिधि सभा और उसके कर्मचारी डबलपोप दयानन्द के नाम पर अपील करके धन क्यों लेते हैं? यह भी तो डबलपोप पनाही है, रहा हाथ का जलना और पूंछ का पकड़ना उसके विषय में—

यद्वो अग्निरजहादेकमंगं
पितृलोकं गमयञ्जातवेदः ।
तद्वएतत्पुनराप्याययामि
सांगाः स्वर्गे पितरोमादयध्वम् १८।४।६४

यह मंत्र प्रमाण है । जिसमें दुबारा स्वर्ग में मंत्र द्वारा उनको सांगोपांग शरीर मिलना लिखा है । इस लिये दयानन्द का यह लेख सर्वथा वेद विरुद्ध है ।

जाटकी कल्पित कहानी

३६१ पृष्ठ में दयानन्द ने एक जाट का कल्पित उपाख्यान देकर गोदान पर आपत्ति उपस्थित की है परन्तु यह उनकी वेदानभिज्ञता है, गोदान वैदिक है, मरण से पूर्व उसका होना अत्यावश्यक है, गौ मृत आत्मा को अपने साथ लेजा कर स्वर्ग में पहुँचा देती है ।

प्रजानत्यघ्न्ये ! जीवलोकं
देवानां पंथामनुसंचरंती ।
अयंते गोपतिस्तं जुषस्व
स्वर्गं लोकमधिरोहयैनम् १८।३।४

इस मन्त्र में—मृत आत्माका गौ के साथ में जाना वर्णित है । मन्त्रार्थ इस प्रकार है, हे अघ्न्ये ! मर कर जीव जिस लोक में जाता है, उस लोक को तू भले प्रकार जानती है, इस लिए इस गोपति को जिसने कि तेरा पालन किया है, देवताओं के मार्ग में होकर स्वर्गलोक में पहुँचा दे । यहां पर

(अघ्न्या) पद गौका विशेषण है, इस लिये गो शब्दसे अन्य किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं हो सकता है। देवताओं का मार्ग देवयान कहाता है। कहां यह वेद की खास आज्ञा ? और कहां अष्टोपाख्यान ? समाजियों ! जरा इस बात पर विचार तो करो !

अब भी कुछ कसर है ?

३६२ पृष्ठ में (प्रश्न) स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता, जो दान किया जाता है वही वहां मिलता है, इसलिये सबदान करने चाहिये (उत्तर) इस तुम्हारे स्वर्गसे यहीलोक अच्छा, जिसमें धर्मशाला हैं, लोग दान देते हैं, इष्टमित्र और जातिमें खूब निमंत्रण होते हैं, अच्छे अच्छे वस्त्र मिलते हैं, तुम्हारे कहने प्रमाणे स्वर्ग में कुछ भी नहीं मिलता, ऐसे निर्दय कृपण कंगले स्वर्ग में पोपजी जाके खराब होवें। वहां भले मनुष्यों का क्या काम ?" यह लेख है। जो परलोक नहीं मानता है उसको नास्तिक कहते हैं। दयानन्द केवल नास्तिक है क्योंकि उसके मतमें परलोक नहीं है।

परस्पर विरोध

३६४ पृष्ठ में (प्रश्न) दानके फल यहां होते हैं वा परलोक में ? (उत्तर) सर्वत्र होते हैं (प्रश्न) स्वयं होते हैं वा कोई फल देने वाला है ? (उत्तर) फल देनेवाला ईश्वर है" यह लेख है। इसमें दानका फल "सर्वत्र" बताया है। इससे लोकांतर भी आ जाता है। कहो समाजियो ! इस परस्पर विरोध का तुम्हारे पासमें कुछ परिहार है ?

व्रतों का खंडन

अग्ने ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि १ । ५

सूर्य ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि २

चंद्र ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि ३

वायो ! व्रतपते व्रतंचरिष्यामि ४

वेदके इन मंत्रोंमें अग्नि सूर्य चन्द्र वायु आदिका निर्देश है। सूर्यकाव्रत रविवार को और चन्द्रका व्रत सोमवार को होता है यह सभी जानते हैं। यजुर्वेदमें "इन्द्रस्यैकादशी" २५। ४ प्रत्यक्ष कही दिया है। शतपथका तो आरम्भ ही "व्रतमुपैष्यन्" १। १। । १ यहां से होता है। यज्ञोपवीत के आरम्भ में ३ दिन का व्रत सर्वाचार्य संमत है। मनुमें १२ दिनका "पराकव्रत" ११। २१६ में मिलता है इतने प्रमाणों के होते हुए स्वा० द० ने ३६५ पृष्ठ में जो एकादशी के व्रतका मजाक उड़ाकर निर्णय सिंधु के प्रणेताको "प्रमादी" लिखा है वह वास्तवमें दयानन्द का प्रमाद है। संप्रदाय भेद से भिन्न भिन्न दिनों के व्रत होते हैं इसलिये १५ दिनका व्रत किसीको भी नहीं करना पड़ता है। दयानन्द की यह कल्पना भी केवल प्रमादमूलकही है।

महर्षि वेदव्यासको कसाई कहा है

३६६ पृष्ठमें "इस निर्दयी कसाई को लिखते समय कुछ भी मनमें दया न आई नहीं तो निर्जला का नाम सजला रख देता तो भी कुछ अच्छा होता, परन्तु इस पोपको दयासे क्या काम ?...इन प्रमादियों के कहने लिखने का प्रमाण कोई भी

न करें" इस प्रकार का लेख है। इसमें [कसाई पोप प्रमादी] ये शब्द प्रत्येक हिन्दू के दिलको दुखाने वाले हैं!

कहां आकर मरा

पृष्ठ ३६७ में "वेद और प्रसिद्ध शाखाओंमें जैसा ब्राह्मणादिका नाम ब्राह्मणादि और शूद्रादिका नाम शूद्रादि लिखा है वैसा ही "अदृष्टशाखाओं में भी" मानना चाहिये। नहीं तो वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सब अन्यथा हो जावेंगे" यह लेख है। इस लेखसे एक जन्ममें वर्ण परिवर्तनका मसला भी अवैदिक माना जायगा। यहां आकर स्वा. द. ने अदृष्ट शाखा भी सब मान ली।

समाज में नाच

३६६ पृष्ठ में "जहां मेला ठेला होता है वहां छोकड़े पर मुकुट धर कन्हैया बना, मार्ग में बैठा कर भीख मंगवाते हैं" यह लेख है। लेख क्या है सफेद झूंठका पुलिंदा है। मैंने आज तक कहीं भी ऐसा करते हिन्दुओं को न देखा। हां दयानन्दी लोग अवश्य १६।१६ वर्ष की छोकड़ियों को जलसे में खड़ी कर देते हैं। यह सब को विदित है। गुरुकुल के मेले में घूंघुरू पहिन कर लौंड़े नाचे यह "वेदप्रकाश" कहता है।

पुजारियों को गालियां

३६६ पृष्ठ में "जब उन्हींसे दंड न पाया तो इनके कर्मों ने पुजारियों को बहुत से मूर्ति विरोधियों से प्रसादी दिला दी, और अब भी मिलती है, और जब तक इस कुकर्म को न छोड़ेंगे तब तक मिलेगी" इस प्रकार का लेख है। इसमें दयानन्द ने ईश्वराराधनको "कुकर्म" कहा है और पुजारियोंको

"प्रसादी" दिलावाई है। क्या यही वैदिक धर्म की शिक्षा का निचोड़ है?

दुबारा फिर खंडन

एक वार तो शाक्त शैव चक्रांकितों का दयानन्द ने खंडन कर दिया अब दुबारा फिर ३६६ पष्ठ से उन्हीं का खंडन आरंभ करके सब से प्रथम वाम मार्ग का मजाक उड़ाना शुरू किया है, परन्तु प्रमाण कुछ नहीं दिया है ॥ ३७१ पृष्ठ में शैव और वैष्णवों का मजाक उड़ाया है, और भक्तमाल ग्रन्थ के नाम से झूठी कहानी लिख कर नारायण के दूतों का मजाक किया है, (भक्तमाल) में यह कहानी नहीं है। ३७३ पृष्ठ में तिलक धारण का मजाक उड़ाया है, और ३७४ पृष्ठ में "सिरीं गनेसा जन्न में" लिख कर ईश्वर और ईश्वर के नामों का मजाक उड़ाया है, ३७५ पृष्ठ में "वेसनसहसरनाम" लिख कर ईश्वरस्तोत्रों को बुरा कहा है। ३७७ पृष्ठ में कबीर को "भुनगा" लिख दिया है, ३७८ पृष्ठ में गुरुनानक को "विद्या कुछ भी नहीं थी" लिखकर "दंभी" वताया है, ३८२ पृष्ठ में "रामदेव" को "रांडसनेही" लिखा है परन्तु समाजी सभी रांड़सनेही है, नहीं तो नियोग का प्रचार क्यों करते। ३८३ पृष्ठ में गोकुलियों का मजाक उड़ाया है, ३८६ पृष्ठ में वल्लभ कुलस्थोंको "भंगदर" का रोगी बताया है परन्तु दयानन्दी कुलों में भी "हर्नियां" चिराने वाले बहुत से [महात्मा] रहते हैं, इस पर भी ध्यान देना चाहिये।

गोस्वामियों पर हमला

३६१ पृष्ठ में "रसविक्रय ब्राह्मण के लिये निषिद्ध कर्म है...जो गुसाईं जी स्वयं बाहर बेचते तो नौकर जो ब्राह्मणादि हैं वे तो इस विक्रय दोष से बच जाते। और अकेले गुसाईं जी ही रस विक्रय रूपी पाप के भागी होते...रस विक्रय करना नीचों का काम है उत्तमों का नहीं" यह लेख है। आर्य समाज में प्रायः रस विक्रय अधिक होता है, बहुत से डाक्टर और वैद्य रस (धातुभस्म) बेचते हैं, बहुत से गोरस बेचते हैं. इसके बाद ३६६ पृष्ठ में माध्वमत का भी दयानन्द ने मजाक उड़ाया है जो प्रमाण शून्य होने से उपेक्षणीय है।

ब्रह्म समाज

३९७ पृष्ठ में "जो कुछ ब्रह्म समाज ने...पाषाणादि मूर्ति पूजा को हटाया, अन्य जाल ग्रंथों के फंदे से भी कुछ बचाया इत्यादि बातें अच्छी है। परन्तु इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है" इस प्रकार का लेख है।

इसमें दयानंदने अपनेसे मिलते हुए ब्रह्म समाजकी प्रशंसा की है।

जन्म से जाति मानलो

३६८ पृष्ठ में ("प्रश्न,) जाति भेद ईश्वरकृत है वा मनुष्य कृत ? (उत्तर) ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी जाति भेद है (प्रश्न) कौन सा ईश्वरकृत ? और कौन सा मनुष्यकृत ? (उत्तर) मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष जल जन्त आदि जातियां परमेश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं में गौ अश्व हस्ति आदि जाति भेद, वृक्षों में

पीपल वट आम्र आदि जाति भेद, पक्षियों में हंस, काक, बक आदि जाति भेद, जल जंतुओं में मत्स्य मकर आदि जाति भेद ईश्वर कृत हैं, वैसे ही मनुष्यों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अंत्यज आदि जाति भेद ईश्वरकृत हैं" इस प्रकार का लेख है। इसमें स्वा. द. ने जाति और जाति भेद, दोनों ईश्वरकृत माने हैं। ईश्वरकृत जाति भेद कभी मिट नहीं सकता इसलिये एक जन्म में वर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता और न जाति गुणकर्म से मानी जा सकती है।

यूरोप में जाति भेद

३६६ पृष्ठ में "इनमें जाति भेद भी है। देखो! जब कोई यूरोपियन चाहें कितने ही बड़े अधिकार पर और प्रतिष्ठित क्यों न हो किसी अन्यदेश तथा अन्य मतवाली लड़की के साथ में विवाह कर लेता है अथवा किसी यूरोपियन की लड़की अन्यदेश या अन्य मतवाले के साथ विवाह कर लेती है तो उसी समय उसका निमंत्रण साथ बैठ कर भोजन और विवाह आदि को अन्यलोग बंद कर देते हैं। यह जाति भेद नहीं तो क्या है? और तुम भोले भालों को बहका देते हैं कि हम में जाति भेद नहीं है और तुम अपनी मूर्खता से मान भी लेते हो। इसलिये जो कुछ करना वह सोच विचार के करना चाहिये जिसमें पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े" यह लेख है। जो समाजी यूरोप में जाति भेद न मान कर उसके दृष्टांत से हिंदुस्तान में भी जाति भेद मिटाना चाहते हैं वह स्वा. द. के इस लेख को ज़रा आंख खोल कर पढ़ें?

सिरमुंडो पार्टी ध्यान दे

४०२ पृष्ठ में "और जो विद्या के चिन्ह यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान ईसाइयों के सदृश बन बैठना यह भी व्यर्थ

है" यह लेख है। लाहौर में एक ऐसी भी पार्टी है जो न शिखा धारण करती है और न सूत्र धारण करती है।

डबल आक्षेप

४०६ पृष्ठ में (प्रश्न) जो ब्रह्मचारी और सन्न्यासी है वे तो ठीक है ? (उत्तर)...ब्रह्मचारी बकरी गले के स्तनके सदृश निरर्थक है, और...सन्न्यासी भी जगत में व्यर्थवास करते हैं (प्रश्न) गिरि पुरी भारती आदि तो अच्छे है ? (उत्तर) ये सब दसनाम पीछे से कल्पित किये है सनातन नहीं" यह लेख है। इसमें ब्रह्मचारी और सन्न्यासी भी संसार में व्यर्थ बताए है, दशनामों में एक (सरस्वती) भी है दयानन्द ने यदि यह सनातन नहीं था तो अपने पीछे क्यों लगवाया ?

अखबार का फाइल

४१४ पृष्ठमें "मोहनचंद्रिका" नामके एक पत्रका फाइल जोड़कर यह समुल्लास पूरा किया है, और वह भी आपको नाथद्वारे के एक विद्यार्थी से मिला है। इधर उधर के रद्दी फाइल जोड़ जोड़ कर जैसे तैसे दयानन्द यहां तक पहुँचे हैं।

द्वादशसमुल्लासालोचन

इसमें ६६ पृष्ठ हैं। वृहदारण्यक का १ प्रमाण है। और १ सूत्र सांख्य दर्शन का है। १५ पद्य चारवाक के और १८ बौद्धधर्म के हैं। २४ प्रमाण विविध जैन ग्रन्थों के हैं, ३ पद्य अमरकोष के और ५३ प्राकृत भाषा के हैं, कुल मसाला इतना है, निम्न लिखित बातें इसमें आलोचनीय हैं।

विशेष वक्तव्य

दयानन्द को प्राकृत का परिज्ञान विलकुल नहीं था। जैनों के ग्रन्थों में प्रायः प्राकृतपद्य ही अधिक होते हैं। प्रकरण रत्नाकर रत्नसार भाग आदि जैन ग्रन्थ केवल प्राकृतमय हैं। वररुचिप्रणीत "प्राकृत प्रकाश" के विना पढ़े इसका परिज्ञान नहीं होता है, दयानन्द इससे विलकुल शून्य थे इस लिए यह समुल्लास अन्य प्रणीत मालूम होता है।

वृहस्पति और दयानन्द

४२३ पृष्ठ में "त्रिदंडंभस्म गुंठनम्" यह पद्य चारवाक मत प्रवर्तक वृहस्पति का दयानन्द ने उद्धृत किया है और उसके व्याख्यान में "त्रिदण्ड और भस्मधारण का खंडन है सो ठीक है" यह लिख दिया है। मनुस्मृति में तीन वर्णों के लिए विल्व-वट पीलु इन तीन दंडों के धारण करने का आदेश मिलता है और यज्ञांत में "त्र्यायुषं" इस मन्त्र से भस्म धारण

करना सदाचार है। दयानन्द इन दोनों को नहीं मानता और वृहस्पति की हां में हां मिला रहा है इस लिए नास्तिक है।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गस् ३

मृतानामिह जंतूनाम् ४

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिस् ५

४२४ पृष्ठ में लिखे हुए वृहस्पति के इन पद्यों का दयानंद ४२५ पृष्ठ में समर्थन करता है। और कहता है कि "पशु मार के होम करना वेदादि सत्य शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा; और मृतकों का श्राद्धतर्पण करना कपोल कल्पित है...इस लिए इस बात का खंडन अखंडनीय है" ३।४।५ यहां पर नास्तिकों की दोनों बातें दयानंद ने मान लीं और नाम मात्र भी उनका खंडन नहीं किया। वास्तव में यह दोनों बातें वैदिक हैं जिनका हमने इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रतिपादन किया है।

ततश्च जीवनोपायः ८

त्रयोवेदस्यकर्तारः ९

अश्वस्यात्रहि शिश्नंतु १०

४२४ पृष्ठ में दिये हुए वृहस्पति के इन पद्यों का ४२६ पृष्ठ में दयानंद ने अनुमोदन किया है और लिखा है कि "ब्राह्मणों ने प्रेत कर्म अपनी आजीविकार्थ बना लिया है। परन्तु वेदोक्त न होने से खंडनीय है" ८-९ पद्य की व्याख्या में महीधराचार्य को "निशाचर" कहा है १० पद्य के विवरण में अश्वमेधयज्ञ की निंदा की है। वास्तव में प्रेत कर्म वैदिक है। जिसका वर्णन पहिले गया है। महीधर ने जो

कुछ लिखा वह कल्पसूत्र और शतपथ के आधार पर लिखा है, शतपथ यजुर्वेद के अनुकूल है।

बौद्ध और दयानन्द

४२७ पृष्ठ में "बुध्या निर्वर्तते यः स बौद्धः" जो बुद्धि से सिद्ध हो अर्थात् जो जो बात अपनी बुद्धि में आवे उस उस को मानै" यह लेख है॥ समाजी भी सभी ऐसा ही कहते हैं। इसलिये बौद्ध और दयानन्द की नास्तिकता में कुछ भी अन्तर नहीं है।

द्वादशायतनपूजा

ज्ञानेन्द्रियाणिपंचैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च
मनो बुद्धिरितिप्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः ४

४३० पृष्ठ में यह पद्य है। इस का अर्थ भी इसी पृष्ठ के अंत में है। जो इस प्रकार है। [पांचज्ञानेंद्रिय अर्थात् श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिव्हा-नासिका-पांचकर्मेन्द्रिय, अथात्-वाक्-हस्त पाद-गुह्य-उपस्थ ये १० इंद्रियां और मन-बुद्धि इन ही का सत्कार-अर्थात् इनको आनन्द में प्रवृत्त रखना,बौद्धका मत है] समाजी भी इंद्रिय पोषण करना ही अपना परमधर्म मानते हैं मूर्तिपूजन का दयानंद ने खंडन कर ही दिया।

जम्बूद्वीप का परिमाण

४४८ पृष्ठ में—"इस पृथिवी में प्रथम जंबूद्वीप सब द्वीपों के बीच में है। इसका परिमाण एक लाख योजन है, और इसके चारों ओर लवण समुद्र है. उसका परिमाण दो लाख योजन कोष का है" यह लेख है। जैन भी ऐसा मानते हैं। परन्तु दयानंद ने इस बात का विचार न किया कि यह कल्पना

हमारे यहां से उनके यहां गई अथवा उनकी यह कल्पना स्वतन्त्र है। दयानंद को खंडन करना आता है। विचार करना दयानन्द के पास तक नहीं गया। देखिये—

भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात् ३।२४

योग दर्शन के इस सूत्र पर भगवान वेदव्यास ने जो भाष्य किया है उसमें क्या लिखा है। (त्रयमेकत्रसंयमः) धारणा-ध्यान-समाधि इन तीनों के द्वारा जब योगी अपने मन को सूर्य में स्थिर करता है तब भुवन का ज्ञान होता है। ऐसा पतञ्जलि कहते हैं। इस सूत्र की व्याख्या में—

सखल्वयं शतसाहस्रायामोजंबूद्वीपः।

ततो द्विगुणेनलवणोदधिनावलयाकृतिनावेष्टितः।

महर्षि व्यास ऐसा लिखते हैं। इसमें जम्बू द्वीप का मान शतसहस्र लिखा है। उसको योजन मानिये अथवा कोश मानिये। जंबू द्वीप के परिमाण से द्विगुण क्षारसमुद्र लिखा है। द्विगुण दो लक्ष होता है। इस लिये दो लक्ष मील का समुद्र जंबू द्वीप के चारों ओर घूमना चाहिये यह विचार वेद व्यास ने पहिले ही करके धर दिया है, और अंत में—

पंचाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः

कह दिया है। अर्थात् विराट् भूमि का परिमाण ५० करोड़ योजन है। जिसमें सात द्वीप हैं, उनसे दूने दूने सात समुद्र हैं, सात हेम कूट आदि पर्वत हैं, सात ही प्रधान लोक हैं, सात पाताल हैं, उनमें भिन्न भिन्न प्रजा है, उन सब की लंबाई—चौड़ाई ५० करोड़ योजन है यह बात ३।२४ सूत्र के भाष्य में ही सब की संब कही गई है।

दयानन्द मान बैठे

२६७ पृष्ठ में "देखो ! जेमिनी ने मीमांसा में सब कर्म-कांड, पतंजलि मुनि ने योग शास्त्र में सब उपासना कांड, और व्यासमुनि ने शारीरक सूत्रों में सब ज्ञान कांड, वेदानुकूल लिखा है" दयानन्द का यह लेख है और ७० पृष्ठ में [पतंजलिमुनिकृत सूत्र पर व्यास मुनिकृतभाष्य] पाठ्य-ग्रन्थों में माना है। पतंजलि और व्यास दयानन्द के मत में दोनों आप्त हैं। यहां पर एक का सूत्र और एक का भाष्य है, जो आप्तकृत है। इस लिये जंबू द्वीप के परिमाण का जो दयानन्द ने खंडन किया है वह गलत है।

और लीजिये

४४८ पृष्ठ में "जम्बूद्वीप में एक हिमवंत, एक ऐरंगुवंत, एक हरिवर्ष, एक रम्यक, एक देव कुरु, एक उत्तर कुरु, ये छः क्षेत्र हैं" इस प्रकार लिखा है। जैनों का यह लेख स्वा० द. ने रत्नसार के १५३ पृष्ठ से लिया है। वास्तव में यह कल्पना भी जैनों के घर की नहीं किन्तु महर्षि व्यास की है। व्यास ने उसी ३।२४ सूत्र के भाष्य में इसका विस्तृत विवरण लिखा है। देखिये

तस्य नीलश्वेतशृंगवंत उदीचीना-
स्त्रयः पर्वताद्विसहस्रायामाः ॥ तदंत-
रेषुत्रीणिवर्षाणि नव-नवयोजनस-
हस्राणि ॥ रमणकं १ हिरण्मयम् २-
उत्तराः कुरवइति (व्या० भा०)

सुमेरु पर्वत के उत्तर भाग में नील और श्वेतरंग वाले २। २ हजार योजन के तीन पर्वत है उन पर्वतों के बीच बीच में ६। ६ हजार योजन के रमणक १ हिरण्मय२ उत्तरकुरु३ ये तीन क्षेत्र है।

निषध हेमकूटहिमशैला दक्षिणतो
द्विसाहस्रायामाः। तदंतरेषुत्रीणिव-
र्षाणि नव नव योजनसहस्राणि॥
हरिवर्ष १ किंपुरुषं २ भारतमिति॥

सुमेरु पर्वत के दक्षिण भाग में २। २ हजार योजन के निषध हेमकूट, हिमालय, तीन पर्वत है। उन पर्वतोंके बीचमें ९।९ हजार योजन के हरिवर्ष १ किं पुरुष २ भारतवर्ष ३ ये तीन क्षेत्र है। जैनोंने इनके नामांतरकर लिये है. कुछ मिले और कुछ जुदे इनके भी ६ क्षेत्र है। परिमाण दोनोंका एकसा है, इसलिये इस विषय में भी व्यास की रचना दयानन्दके समझ में नहीं आई, इसीलिये ऊटपटाँग लिख दिया है।

व्याघातनं० १

अहिंसासूनृताऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ॥१॥

४५१ पृष्ठ में स्वा० द० ने यह जैन पद्य दिया है। यह भी योग दर्शन के (यमवर्णन परक) सूत्र का पूर्णानुवाद है। जैनों ने योगदर्शनकी बहुत कुछ नकल करली है, दयानन्द इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "इनमें बहुत बातें अच्छी है...परन्तु ये सब अन्यमत की निन्दा करने आदि दोषोंसे सब अच्छी बातें भी दोष युक्त होगई जैसे प्रथम सूत्र में लिखी

है कि अन्य हरिहरादिका धर्म संसार में उद्धार करने वाला नहीं, क्या यह छोटी निन्दा है कि जिनके ग्रंथ देखने से ही पूर्ण विद्या और धार्मिकता पाई जाती है उनको बुरा कहना ?" इस लेखमें वदतोव्याघात है। पहिले हरिहर की बुराई की अब शिवपुराण विष्णुपुराण पूर्ण विद्या और धार्मिकता से भरे कह दिये, क्या खूब ?

व्याघात नं. २

४५६ पृष्ठ में "जो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा, और अपने ही धर्म को बड़ा कहना, और दूसरे की निंदा करनी है, वह मूर्खता की बात है। क्योंकि प्रशंसा उसी की ठीक है कि जिसकी दूसरे विद्वान करें, अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं, तो क्या वे प्रशंसनीय हो सकते हैं" यह लेख है। दयानंद ! देखो ! तुमने ४०३ पृष्ठ में स्वयं स्थापित आर्य-समाज की अपने मुख से प्रशंसा की और अन्यधर्मों को बुरा कहा क्या यह तुम्हारी मूर्खता है नहीं है ?

व्याघात नं. ३

४५७ पृष्ठ में "जैसे जैनी लोक सब के निंदक हैं वैसा कोई भी दूसरे मतवाला महा निंदक और अधर्मी न होगा। क्या एक ओर से सबकी निंदा करना और अपनी अति प्रशंसा करना शठ मनुष्यों की बातें नहीं हैं" यह लेख है॥ दयानंद ! तुमने सब मतों की निंदा की और अपने समाज की ४०३ पृष्ठ में प्रशंसा की इसलिये तुम भी महानिंदक अधर्मी और शठ हो ? याद करो अपनी पिछली बातों को।

व्याघात नं. ४

४४८ पृष्ठ में ' जैसे जैनलोग विचारते हैं वैसे दूसरे मतवाले भी यदि विचारें तो जैनियों की कितनी दुर्दशा हो? और उनका कोई किसी प्रकार का उपकार न करे तो उनके बहुत से काम नष्ट हो कर कितना दुःख प्राप्त हो" यह लेख है। समाजियो! जैसा तुम विचारते हो वैसा यदि सनातनी भी विचारें तो तुम्हारी कितनी दुर्दशा हो ? याद करो १५ अगस्त सन् १९१८ वाली धौलपुर की घटना को।

जैनों को गालियां

४६४ पृष्ठ में "वाह रे वाह ! विद्या के शत्रुओ ! तुमने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनों का कोई खंडन न करेगा" यह लेख है। इसमें जैनों को विद्या का शत्रु कह कर मूर्ख बनाया है। दयानंद ! तुमको भी यह खबर न थी कि "कविरत्न पंडित अखिलानन्द शर्मा" समाज का सब रहस्य देख कर हमारी खबर लेंगे ? नहीं तो तुम भी ऐसा न लिखते अब क्या होता है। भोगो अपने कर्मों का फल ?

पहिले अपना घर देखो !

४८८ पृष्ठ में आप लिखते हैं कि "अब देखिये ! इनकी गिनती की रीति। एक अंगुल प्रमाण लोमके कितने खंड किये, यह कभी किसी की गिनती में आ सकते हैं ? और उसके उपरांत मन से असंख्य खंड कल्पते हैं" इस लेख में दयानंद बहुत भूले। दयानंद को अपने घर की खबर तक नहीं रही देखिये—

वालाग्रशतभागस्य
शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः
सचानंत्याय कल्पते १

उपनिषद् के इस वाक्य में क्या लिखा है। एक बाल (लोम) के अग्रभाग को पकड़ कर उसके फिर १०० टुकड़े यदि किये जांय तो उनमें १ टुकड़े के बराबर जीव का परिमाण हो। दयानंद! कहो जैनों के ऊपर तो आक्षेप करने चले हो जरा इसको तो समझो! यह क्या अत्युक्ति अथवा अतिशयोक्ति नहीं है?

जालांतरगते भानौ
यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठितमो भागः
परमाणुरुदाहृतः १

जाली के झरोखों से निकले हुए सूर्य के किरणों में जो सूक्ष्मरज उड़ता २ दिखाई देता है, उसका साठवाँ भाग परमाणु कहाता है। दयानन्द! जरा आंख खोलकर इसपर दृष्टि दो?

त्रयोदशसमुल्लासालोचन

इसमें ५६ पृष्ठ हैं। २ फुटकर लापता श्लोक है जो अप्रासंगिक है। बाकी इसमें कुछ नहीं है।

आक्षेप नं० १

४१२ पृष्ठ में—"आरंभ में ईश्वर ने आकाश और पृथिवी को सृजा और पृथिवी बेडौल और सूनी थी, और गहिराव पर अंधियारा था और ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था। १।२" यह लेख है। इसका मूलाधार—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।

यह उपनिषद् का वाक्य है। इसमें आकाश से उपक्रम (आरंभ) करके पृथिवी पर (उपसंहार) किया है। ईश्वरने पहिले आकाश पैदा किया फिर क्रमशः अन्तमें पृथिवी बनाई। आरम्भ शब्द यहां पर औपचारिक है, १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार १८ वर्ष—इसी वर्तमान सृष्टि के हुए हैं। पोल की उत्पत्ति पर जो शंका की है, वह अपने ऊपर भी आती है। दयानन्द ! कहो तुम कैसे इसकी व्यवस्था लगाते हो ! बेडौल से प्रयोजन ऊंचा नीचा है। जो अब भी है, ऊंचे से ऊंचे पर्वत और नीची से नीची खाइयां अब भी मौजूद हैं॥ पानी के गहराव में सर्वदा अंधेरा रहता है। न मानो तो डूब कर देखो ? आत्मा से यहां पर शरीर का

ग्रहण है। पृथिवी ईश्वर का शरीर है। इस लिए (यस्यपृथिवी शरीरम्) ऐसा उपनिषदों में कहा है।

आक्षेप नं. २

४६४ पृष्ठ में—"तब ईश्वर ने कहा कि हम आदम को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें। तब ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में उत्पन्न किया। उसने उन्हें नर और नारी बनाया १। २६" यह लेख है। इसका मूलाधार [आत्मैवेदमग्रआसीत्]

यह है। ईश्वर स्वयं पुरुष के स्वरूप में था, उसने अपने स्वरूप में (आदम) आदिम ब्रह्मा को बनाया, वह ब्रह्मा ईश्वर पुत्र होने से ईश्वर सदृश पुरुषाकार बना, यह आख्यान शतपथ ब्राह्मण में लिखा है। इसी लिए—

द्विधाकृत्वात्मनोदेहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यांस विराजमसृजत्प्रभुः १।३२

ऐसा मनु ने लिखा है। आदम शब्द आदिम से बिगड़ कर बना है। ब्रह्मा आदिम है (आदौभव आदिमः) इसी लिए "ब्रह्मादेवानां प्रथमः संबभूव" ऐसा उपनिषद् में लिखा है। अब देखिए दयानन्द का तर्क ! आप लिखते हैं कि "ईश्वर का सामर्थ्य द्रव्य है वा गुण ? जो द्रव्य है तो ईश्वर से भिन्न दूसरा पदार्थ था, और जो गुण है तो गुण से द्रव्य कभी नहीं बन सकता। जैसे रूप से अग्नि, और रस से जल नहीं बन सकता" यह आपका "तर्क संग्रह" है। अब हम दयानन्द से पूंछते हैं कि तुमने जो स० प्र० के १६ पृष्ठ में "निर्गत आकारात्स निराकारः" ऐसा लिखा है। उसमें आकार गुण से,

ईश्वर द्रव्य कैसे निकल गया, ? ईश्वरकी शक्ति ईश्वरसे भिन्न नहीं है,तदंन्तर्गत है। तुम बतलाओ ? तुम क्या मानते हो ?

आक्षेप नं. ३

५१२ पृष्ठमें "क्योंकि मैं परमेश्वर, तेरा ईश्वर, ज्वलित सर्व शक्तिमान हूँ, पितरों के अपराध का दंड उनके पुत्रोंको, जो मेरा बैर रखते हैं उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ीलों दिवैया हूँ" यह लेख है। इसका मूलाधार

यदिनात्मनि पुत्रेषु नचेत्पुत्रेषु नप्त्रिषु ॥
नत्वेवतुकृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ४। १७३

मनुस्मृतिका यह पद्य है। इसमें कहा गया है कि अधर्मका फल पिता पुत्र पौत्र तक ईश्वर भुगवाता है। जिस पापका फल मनुष्य स्वयं न भोग सका उसका फल यौनसंबंध से पुत्र भोगेगा। इतने पर भी अगर वह खतम न हुआ तो पौत्रको भोगना होगा। दयानन्द ! क्या तुमने मनुस्मृति भी नहीं पढ़ी ?

आक्षेप नं० ४

५१३ पृष्ठमें "सो अब लड़कों में से हरएक बेटेको और हरएक स्त्रीको जो [परस्त्री अथवा पर] पुरुष से संयुक्त हुई हो प्राणसे मारो। परन्तु बेबेटियां जो पुरुष से संयुक्त नहीं हुई हैं, (कुमारी हैं) अपने लिये जीती रक्खो" यह लेख है। "धायतेगुधामि" वाले लड़के और नियोगकराने वाली स्त्रियां मूसा को पसंद नहीं थीं। दयानन्द ! क्या सजातीय अक्षतयोनि कन्यासे विवाह करना व्यभिचार है ? ज़रा कहो तो सही ?

चतुर्दशसमुल्लासालोचन

इसमें ७० पृष्ठ हैं। आधे २ फुटकर २ पद्य हैं। १० अल्लोपनिषद्के बनावटी मंत्रों में मिले अथर्ववेद के २ मंत्र है। कुल मसाला इतना है।

विशेषवक्तव्य

सनातन धर्म संसार में सबसे प्राचीन है। इसलिये सभी मतों ने इस धर्म के दरवाजे पर आकर भिक्षा माँगी है, और उदार भावसे इस सनातन धर्म ने भिक्षा दी है, वही भिक्षा के दाने सबके यहां चमक रहे हैं, सनातन धर्म की जिन बातों का दयानन्द ने अन्यमतों में आनेके कारण खंडन किया है उन बातों का अन्वेषण करना हमारा कर्तव्य है। वह बातें हमारी हैं, हमारे यहाँ से गई हैं, हमारी बातें सुवर्ण के समान सर्वत्र पवित्र है। उन बातों पर दयानन्द ने जो आक्षेप किया ह वह केवल उसकी मूर्खता है। दयानन्द अरबी जुबान नहीं जानता था, कुरान अरबी में है, दयानन्द ने उसका अनुवाद किसीसे कराकर ग्रन्थ में लगवाया है, ऐसा प्रतीत होता है।

आक्षेपनं० १

५५४ पृष्ठ में "सबस्तुति परमेश्वर के वास्ते है जो परवरदिगार है सब संसार का" यह लेख है। इसका मूलाधार [सर्वदेवनमस्कारः केशवंप्रतिगच्छति] यह वचन है, जिस

ईश्वरको प्रमाण करते हैं या नईशसे मोक्षके पास पहुँचता है।

आक्षेप नं० २

५५४ पृष्ठ में 'तुझही को हम भक्ति करते हैं, और तुझ ही से सहाय चाहते हैं, दिखा हमको सीधा रास्ता" १।१।१।४।५ यह लेख है। इसका मूलाधार—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठांते नम उक्तिं विधेम ।

यह मंत्र है। इसमें ईश्वर के लिये बार बार नमस्कार करना और सीधे मार्ग से ले जाने की प्रार्थना है।

आक्षेप नं० ३

५५६ पृष्ठ में "उस दिन से डरो कि जब कोई जीव किसी जीव से भरोसा न रक्खेगा" १।१।२।४६" यह लेख है। इसका मूलाधार—

नामुत्रहिसहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः
न पुत्रदारानज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठतिकेवलः४।२३९

यह मनु का पद्य है। अंत समय में और परलोक में सिवाय एक धर्म के और कुछ काम नहीं आता है। माता पिता-पुत्र स्त्री-भाई उस समय कोई काम नहीं आता है।

आक्षेप नम्बर ४

५६० पृष्ठ में "वे सदैवकाल बहिश्त अर्थात् वैकुंठ में वास करने वाले हैं १।१।२।७५" यह लेख है॥ इसका मूलाधार [यद्गत्वाननिवर्तंते तद्धाम परमं मम] यह गीताका वचन है। वैकुंठलोक भगवान का है, वहां जाकर मनुष्य फिर वापिस नहीं आते।

आक्षेप नम्बर ५

५६३ पृष्ठ में "तुम जिधर मुंह करो उधर ही मुंह अल्लाह का है १।१ २।१०७" यह लेख है। दयानन्द का भी यही सिद्धांत है। पंच महा यज्ञ विधि में दयानन्द ने "प्राचीदिगग्नि" इस मंत्र का सत्यानाश करते हुए [यत्रस्वस्य मुखं सा प्राचीदिक्] ऐसा प्राची का लक्षण किया है जो बिलकुल कुरान से मिलता है। हम ऐसा नहीं मानते।

आक्षेप नम्बर ६

५७० पृष्ठ में "अल्लाह सूर्य को पूर्व से लाता है १।३।२।२४०" यह लेख है। इसका मूलाधार भी [आदित्य संयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतोऽभूताच्च प्राची २।२।१४] यह वैशेषिक दर्शन का सूत्र है। इसी लिये [उदयति दिशियस्यांभानुमान्सैव पूर्वा] ऐसा उदयनाचार्य ने लिखा है।

आक्षेप नं० ७

५७१ पृष्ठ में "जिसको चाहे नीति देता है १।३।२।२५१" यह लेख है। इसका मूलाधार [यंकामये तन्तमुग्रंकृणोमि तंब्रह्माणंतमृषिंतंसुमेधाम्] यह वेद मंत्र है। ईश्वर जिसको चाहता है उसी को प्रतापशाली करता है, उसी को ब्रह्मा बनाता है, उसी को ऋषि और बुद्धिमान बनाता है। यह मनुष्य का काम नहीं है।

आक्षेप नं० ८

५७१ पृष्ठ में "अल्लाह की ओर से बहिश्तें हैं, जिनमें नहरें चलती हैं, उन्हीं में सदैव रहने वाली शुद्ध बीवियां हैं १।३।३।११" यह लेख है। इसका मूलाधार-

घृतह्रदामधुकुल्याः सुरोदकाः
क्षीरेणपूर्णाउदकेनदध्ना ॥
एतास्त्वाधाराउपयंतुसर्वाः
स्वर्गेलोके मधुमत्पिन्वमानाः १
अनस्थाः पूताः पवनेनशुद्धाः
शुचयः शुचिमपियंतिलोकम् ।
नैषां शिश्नंप्रदहतिजातवेदाः
स्वर्गे लोकेवहुस्त्रैणमेषाम् २

यह अथर्व वेद के दो मंत्र हैं। इनमें स्वर्ग का वर्णन करते हुए, घी शहद-शराब-दूध-पानी दही की धारा (नहरें) लिखी हैं। रोग का भय भी वहां नहीं है। बहुत सी अप्सरा स्वर्ग में विद्यमान हैं जिनका वर्णन नीचे लिखे मंत्र में मिलता है।

तं पंचशतान्यप्सरसां प्रतिधावंति,शतं माला-हस्ताः शतमाञ्जनहस्ताः शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं कणाहस्ताः (कौ.ब्रा.अ.१मं.४)

आक्षेप नं. ९

५७३ पृष्ठमें "ईश्वर बहुत मकर करने वाला है? ३।३।४६" यह लेख है॥ इसमें इश्वर को मकर करने

वाला अर्थात् [मायी] कहा है ॥ माया भगवान की सहचरी शक्ति है ॥ वेद में भी "मायी" कहा है ॥ इस का मूलाधार—

दैवीह्येषागुणमयी मममाया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंतिते ७।१४ ॥

भगवद्गीता का यह पद्य है । माया "अनिर्वचनीय है, त्रिगुणात्मक है, मोहिनी है, विश्वव्यापिनी है" दयानंद ! कहो कुछ समझ में आया ?

आक्षेप नं. १०

५६३ पृष्ठ में—"और निश्चय क्षमा करने वाला हूँ, वास्ते उस मनुष्य के, तोबाह की और ईमान लाया, कर्म किये अच्छे फिर मार्ग पाया ४ । १६ । २० । ७८" यह लेख है । इसका मूलाधार—[अहंत्वांसर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः] यह भगवद्गीता का पद्य है । ईश्वर में पाप क्षमा करने की शक्ति है ॥ जो पाप करने, पर पश्चात्ताप करताहुआ ईश्वर की शरणमें आता है वह कैसाही दुराचारी क्यों नहो परन्तु ईश्वर उसपर दया करके उसके सब पाप क्षमा करते हैं इसीलिए—

अपिचेत्सुदुराचारो भजतेमामनन्यभाक् ।
साधुरेवसमंतव्यः सम्यग्व्यवसितोहिसः ९।३०

ऐसा भगवान् ने अपने श्रीमुख से गीता में कहा है । और "नमे भक्तः प्रणश्यति" कह कर आश्वासन किया है ।

आक्षेप नं० ११

६२० पृष्ठ में—दयानन्द ने न मालूम कहां से लाकर एक अल्लोपनिषद् छापी है । परन्तु वह मिलती नहीं है । न कहीं वह छपी है । उसके बीच में—

आदलाबुकमेककम् १
अलाबुकं निखातकम् २

यह दो मंत्र अथर्ववेद के २० काण्ड में के विद्यमान हैं। दयानन्द ने इनको देखा तक नहीं है। इसी लिए ऊटपटांग बकवास किया है।

दयानन्दमंतव्यालोचन

इसमें ८ पृष्ठ हैं। नाम इसका [स्वमंतव्य मंतव्यप्रकाश] है। १ पद्य भर्तृहरि का १ महाभारत का और १ मनु का है। २ उपनिषद के मन्त्र हैं। बस कुल मसाला इतना है। इसका खंडन इस ग्रन्थ में स्थल स्थल पर हो गया है। परन्तु थोड़ा सा यहां पर भी किये देते हैं।

(१) ईश्वर का पता प्रकृति से मिल सकता है। बिना प्रकृति के ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि आधाराधेय भाव, व्याप्यव्यापक भाव बिना दो पदार्थों के कदापि नहीं बनता। ईश्वर द्रव्य है। फिर निराकार कैसा? इस लिए ईश्वर सर्वात्मभूति है, भक्तवत्सल है, और प्रकृति में विद्यमान है, सर्वशक्तिमान है, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्त हैं, साकार निराकार ये दोनों उसके (स्व-रूप) अर्थात् अपने रूप हैं।

(२) ईश्वर प्रणीत संहिता मंत्र भाग, यह शब्द दयानन्द ने इस प्रकार जोड़े हैं जिस प्रकार कोई प्रमत्त गीत गाता हो? भाग शब्द उसमें अवयव का द्योतक है। भाग किस का? संहिता एकत्रकिये (संहनन) समुदाय को कहते हैं। ईश्वर का ज्ञान क्या इधर उधर बिखरा हुआ है? निराकार ईश्वर शब्द संपादन कैसे करता है? नहीं करता है तो "प्रणीत" शब्द

अबकी बार कैसे छपगया ? वेदकी शाखा ११३१ है, जो हमने इसी ग्रंथ में अन्यत्र कहा है ११२७ के होने में प्रमाण क्या है ? शब्द प्रमाण है, वह शब्दांतर साध्य है, जिन शब्दों से शब्द प्रमाण सिद्ध किया जाता है वे शब्द किस प्रमाण से सिद्ध हैं ? यदि नहीं? तो शब्दस्वतः प्रमाण कैसा ? हमारे मतमें (मंत्र ब्राह्मण) सब शाखा मिलकर वेद हैं और वह सब स्वतः प्रमाण है।

(३) ईश्वराज्ञा—वेदों से अविरुद्ध, यह क्या ? क्यावेद विरुद्ध भी ईश्वराज्ञा है ?

(४) [इच्छाद्वेषप्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिंगम्] न्याय दर्शन के इस सूत्र में "अल्पज्ञ" और (आदि) शब्द नहीं है, वेद में भी कहीं जीव को अल्पज्ञ नहीं कहा, कहो ! यह तुमने किसके आधार पर लिखा है ?

(५) साधर्म्य और वैधर्म्य से जिसका प्रत्यवस्थान हो वह जाति कहाती है। जीव ईश्वर जाति में नहीं है यदि है तो कहो किसमें है। ब्राह्मण है, वा क्षत्रिय ? जब व्यापक अग्निका काष्ठ उपासक नहीं तो पिता पुत्र कैसा ? धन्य है ? दृष्टांत देने तक का सहूर नहीं है।

(६) अनादि शब्द में (नञ्समास) किस अर्थ में हुआ है ? दयानन्द ! तुम [स्व-रूप, स्वभाव] इनका अर्थ तो करो ? स्वके भाव रूप और भावका क्या मेल जोल है ? नित्य पदार्थों का यदि अपना भाव नित्य है तो आपस में दूसरे के सरूप है, या विरूप है ? यदि सरूप है तो किस किस अंशमें ? अंशांशि-भाव किसका किसमें कहो कुछ उत्तर है ?

(७) सृष्टि बनाने को जो ईश्वर में शक्ति है, वह स्वाधीन है या पराधीन ? यदि सृष्टि न बने तो ईश्वर का सामर्थ्य ही

बेकार होजाय, क्या खूब ! ईश्वर को भी सृष्टि बनाने में परवश बनाया ? लानत है इस गोबर दिमागी पर ? ६

(८) सर्वव्यापक ईश्वर में विचरना मुक्ति का लक्षण खूब घड़ा है। कुछ प्रमाण ? दयानन्द ! तन्मय-तद्रूप होना तो तुम मानते नहीं हो, फिर अनंत ईश्वर में जीवको क्यों फँसाया ? मुक्ति से पुनरावृत्ति वेदविरुद्ध है। इस लिये तुम बकते हो ?

(९) वर्णव्यवस्था वेद दर्शन उपनिषद ब्राह्मण, कल्प मनु-आदि ग्रंथों में जन्म से मानी है, गुण कर्म से नहीं ! इसलिये गुण कर्म के आधार पर जाति को मानना तुम्हारी भूल है। गुण द्रव्याश्रित रहते हैं, कर्म जड़ है। विना कर्ता के बनता नहीं है। इनका आधार शरीर है, शरीर योन्याश्रित है, और योनि ईश्वरेच्छा पर निर्भर है ! १८

(१०) न्यायकारी यह विशेषण ईश्वर के लक्षण में आचुका है। ईश्वर सत्य स्वरूप है। वह असत्य को छोड़ कर सत्य का ग्रहण करें और विचार करता रहे, यह बात दयानन्द जैसे ही मान सकते हैं। अन्य नहीं १९

(११) देव असुर राक्षस पिशाच यह चारों योनि है, योनिकल्पना ईश्वराधीन है। इस बात को ३।२४ सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने माना है, मनु के दशमाध्याय में भी यही कहा है। इसलिये दयानन्द का कहना निरर्थक है२०

(१२) माता पिता की मूर्ति का मानना मूर्ति पूजा मानने का पहिला सोपान है। अल्प बुद्धि यहीं से मूर्तिपूजन का आरम्भ करते हैं, जब माता पिता को ईश्वर मानते हैं तब सब मूर्तियां पूजने लगते हैं। २१

१३—ब्रह्मा का बनाया कोई ब्राह्मण ग्रंथ नहीं है किंतु ऐतरेय-वसिष्ठ-याज्ञवल्क ऋषिप्रणीत ब्राह्मण हैं, कल्प को तुम

मानते नहीं हो ? वेदमें इतिहास-गाथा-नाराशंसी सब विद्यमान हैं इसलिये उनको पुराण कहनाही मूर्खताका परिचय देना है २३

१४—जब मन और आत्मा का संस्कार मानते हो तब मन अमर है, इसीलिये वेद में उसको (अमृत) कहा है-जीव भी अमर है, फिर मरने के बाद भी-दोनों के होते हुए संस्कार क्यों नहीं ? मन के रहने का स्थान हृदय है-इसी लिये वेद में (हृत्प्रतिष्ठं) कहा है ॥ मनके अन्दर जीव है-इसी लिये (मानसो ह्निर्जीवः) कहा है ॥ २७

१५—आर्य-जाति में-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और दस्यु जाति में दास-नापित-धीवर यही लिये जाते हैं ॥ इसलिये दयानंद का प्रमत्तगीत सुनने योग्य नहीं है २६

१६—२३५ पृष्ठ में तो "तिब्बत" में आदि सृष्टि बनी ? और आर्य लोग वहां से लड़कर यहां आए ? और यहां पर-आदिसृष्टिसे ही आर्यों का स्थान आर्यावर्त हो गया-दयानंद ! भंग का नशा न उतरा हो तो अगला पेड़ा खालो ३०

१७—न्याय में दयानंद (तर्कसंग्रह) पढ़ा था-इसीलिये [आप्तस्तु यथार्थवक्ता] इसका अनुवाद करके आप्त का लक्षण लिख दिया ॥ दयानंद !! हमतेरी सब पंडिताई जानते हैं । ३८

१८ स्वर्ग और नरक यह दोनों लोक विशेष है । योग दर्शन के ३।२४ व्यास भाष्य में ऐसा ही लिखा है । अथर्व वेद और ऐतरेय ब्राह्मण भी लोक विशेष को स्वर्ग मानते हैं । ४२-४३

१९ विवाह अपनी इच्छा से नहीं किंतु अदृष्ट देवताओं की इच्छा से होता है । इसीलिये "देवदत्तां पतिर्भार्यां विंदते नेच्छयात्मनः" ऐसा मनुने लिखा है । [मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः] यह मंत्रभी हमारी बात का समर्थक है ।

उपसंहार

"सत्यार्थप्रकाशालोचन" समाप्त हो गया। जिस प्रयोजन से इस ग्रन्थका आरम्भ किया था ईश्वरानुग्रह से वह भी पूर्ण होगया। प्रयोजन यही था कि मैं आर्यसमाजकी वैदिकता का सर्वसाधारण के समक्ष पोल खोल दूं वह कार्य हो गया, क्योंकि समस्त सत्यार्थ प्रकाश में ५८ पूरे और ३३ अधूरे लूले लङ्गड़े मंत्र हैं जो १८ पेजी साइज के १ फार्म नहीं है। उनका अर्थ ऋषि और देवता के विरुद्ध होने से कोई विद्वान नहीं मान सकता है।

यजुर्वेद भाष्य में छपे हुए दयानन्दीय विज्ञापन के अनुसार वेदातिरिक्त ग्रन्थों का प्रमाण केवल साक्षि मात्र ठहरता है, साक्षियों की बात पर दयानन्द का विश्वास नहीं है। वेद के मूल मंत्र दयानन्द के अभीष्ट का समर्थन नहीं करते। उनकी वही हालत है जो रावण के साथ पतिव्रता सीता की थी। दयानन्द उनको अपनी तरफ खींच रहा है, और मंत्र ईश्वर नियमितार्थ के प्रतिपादन का हठ नहीं छोड़ते। ऐसी हालत में समाजियों का सिद्धांत "विलइणो वृषणायते" की तरह बीच में ही लटक रहा है। मैंने जो कुछ इस ग्रन्थ में लिखा है वह समाज का सब साहित्य देख कर लिखा है। समाज की जो बात पुस्तकों में या समाचार पत्रों में नहीं छपी है उसका उद्धरण नहीं दिया है,

सत्यार्थ प्रकाशका प्रचार भारतवर्ष में अब नहीं होना चाहिये क्योंकि इसमें प्रायः हिन्दुओं के दिल दुखाने की ही बातें लिखी गई हैं और साथ ही यह ग्रन्थ स्वराज्यवाद से भरा हुआ है, इसका हम काफी प्रमाण इस ग्रन्थ के अन्दर दे चुके हैं। हमारे धर्माचार्यों को अवतारों को तीर्थों को मान्य पुस्तकों को कहां तक कहें सबको इसमें बुरे बुरे शब्दों से याद किया। इसी कारण हमने भी इस ग्रन्थ में दयानन्द के लिये उन्हीं शब्दोंका प्रयोग किया है जिनको दयानन्द ने हमारे देवता ऋषि महर्षियों की शानमें स्थल स्थल पर लिखा है।

इसका प्रयोजन केवल स० प्र० से गालियों का निकलवाना है। जैसा दिल दयानन्द को बुरा कहने से समाजियों का दुखता है वैसा ही अवतार तीर्थ मूर्तिपूजा श्राद्ध आदिका खंडन करने से सनातन धर्मी हिन्दूमात्र का दुखता है। दिल दोनों के बराबर हैं।

बैलेन्स बराबर है

दिल दुखने वाला बैलेन्स बराबर है। एक ओर थोड़े से दयानन्दी और दूसरी ओर २२ करोड़ हिन्दू जिनमें शाक्त शैव वैष्णव वल्लभाचारी आदि सभी हैं,। जिस पुस्तक से २२ करोड़ हिन्दुओं का दिल दुखता हो उसका प्रचार होना सर्वथा अन्याय है। हमारी रायमें सब मतवाले भारत सरकार से अपने अपने मतकी निन्दा दूर करने के लिये यदि प्रार्थना करें तो यह बात बहुत अनायास से हो जावे क्योंकि हमारी सरकार सर्वदा शांति प्रिय है। किसी का दिल दुखाना उसको अभीष्ट नहीं है।

मङ्गलाशंसन

इस ग्रन्थ में जो कुछ हमको लिखना था लिख दिया, और भकानु कंपी भगवान के अनुग्रह से इस कार्य में हम सफल भी हुए, इस लिये ईश्वर को बार बार धन्यवाद है। ईश्वर करें सुरभारती का विजय हो, धर्म रक्षक भारतेश्वर का विजय हो, भारत सम्राज्ञी राजराजेश्वरी महारानी का सौभाग्य बढ़े, देश के नेताओं का विजय हो, भारत नररत्नों का मान हो, भारत वर्ष की उन्नति हो, सनातन धर्म का विजय हो, इसके विरोधियों का पदे पदे दर्पदलन हो, सब धार्मिक बनें, नास्तिकताका मुंह काला हो, घर घर में भगवान का पूजन हो, देव कार्य हों, पितृ कार्य हों, देशाचार, कुलाचार, वर्णाचार, यथावस्थित रहें, भगवान सब का भला करें।

ग्रन्थान्तमंगलम्

वृंदारका यस्य भवंति भृंगा
मंदाकिनी यन्मकरंदबिंदुः ।
तवारविंदाक्ष पदारविन्दं
वन्दे चतुर्वर्गफलप्रदं तत् ॥ १ ॥

आलिंगितो जलधिकन्यकया सलीलं
लग्नः प्रियंगुलतयेव तरुस्तमालः ।
देहावसानसमये हृदये मदीये
देवश्चकास्तु भगवानरविंदनाभः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्भरद्वाजगोत्रीय-सनाढ्यवंशावतंस-
मुनिवर पं० टीकारामशर्मतनूद्भव-
कविरत्नाखिलानन्दशर्मप्रणीतं
सत्यार्थप्रकाशालोचनं
समाप्तिमगात्
ॐ तत्सत्